||Shri Hari||

Welcome to eBooks in HINDI

भगवान् और उनकी भक्ति

Table of Contents

१- भक्ति, भक्त तथा भगवान् ....

२- भक्ति और उसकी महिमा....................

३- भगवान्‌का सगुण स्वरूप और भक्ति ....

४- प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद ....

५- सर्वश्रेष्ठ साधन ....

६-सब कुछ भगवान् ही हैं ....

७-विलक्षण भगवत्कृपा ....

८- वास्तविक सिद्धिका मार्ग ....

९- प्रार्थना और शरणागति....................

॥ श्रीहरिः ॥ 589▲

भगवान् और उनकी भक्ति

स्वामी रामसुखदास

589

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान् और उनकी भक्ति

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

[589] भ० उ० भ० 1 A

सं० २०६४ तेरहवाँ पुनर्मुद्रण ३,०००
कुल मुद्रण १,३२,०००

❖ मूल्य— ६ रु०
(छः रुपये)

ISBN 81-293-0573-9

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
फोन : (०५५१) २३३४७२१; फैक्स : (०५५१) २३३६९९७
e-mail : **booksales@gitapress.org** website : **www.gitapress.org**

[589] भ० उ० भ० 1 B

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

भगवद्गीता एक ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है, जिसका आजतक न तो कोई पार पा सका, न पार पाता है, न पार पा सकेगा और न पार पा ही सकता है। गहरे उतरकर इसका अध्ययन-मनन करनेपर नित्य नये-नये विलक्षण भाव प्रकट होते रहते हैं। हमारे परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजको भी इस अगाध गीतार्णवमें गोता लगानेपर अनेक अमूल्य रत्न मिले हैं और अब भी मिलते जा रहे हैं। पिछले वर्ष मथानिया (जोधपुर) में चातुर्मासके समय भी आपको गीतामेंसे भगवान्‌के सगुण-स्वरूप तथा भक्ति-सम्बन्धी अनेक विलक्षण भाव मिले। उन्हीं भावोंको लेकर प्रस्तुत पुस्तककी रचना की गयी है। आशा है, विचारशील तथा भगवत्प्रेमी साधकोंको यह पुस्तक एक नयी दृष्टि प्रदान करेगी और सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखायेगी।

पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तकको मनोयोगपूर्वक पढ़ें, समझें और लाभ उठायें।

दीपावली

वि० सं० २०५० —**प्रकाशक**

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या
१-भक्ति, भक्त तथा भगवान्	....	१
२-भक्ति और उसकी महिमा	....	१०
३-भगवान्‌का सगुण स्वरूप और भक्ति	....	१९
४-प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद	....	४९
५-सर्वश्रेष्ठ साधन	....	६०
६-सब कुछ भगवान् ही हैं	....	७४
७-विलक्षण भगवत्कृपा	....	८६
८-वास्तविक सिद्धिका मार्ग	....	९४
९-प्रार्थना और शरणागति	....	१०३

१- भक्ति, भक्त तथा भगवान्

॥ श्रीहरि: ॥

१. भक्ति, भक्त तथा भगवान्

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तिकी विशेष महिमा आती है। जब भगवान्ने अर्जुनकी प्रार्थना सुनकर अपना विश्वरूप दिखाया, तब उस विश्वरूपके लिये भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि तेरे सिवाय ऐसा रूप पहले किसीने भी नहीं देखा है और देखा जा भी नहीं सकता (गीता ११। ४७-४८)। फिर पुन: अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान्ने अपना चतुर्भुज-(विष्णु) रूप दिखाया और उसके लिये अर्जुनसे कहा—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११। ५३)

'जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकारका (चतुर्भुजरूपवाला) मैं न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।'

जब किसी भी साधनसे नहीं देखे जा सकते तो फिर किसके द्वारा देखे जा सकते हैं? इसपर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११ । ५४)

'परन्तु हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार (चतुर्भुजरूपवाला) मैं अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और प्रवेश (प्राप्त) किया जा सकता हूँ।'

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि भक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—तीनों हो सकते हैं। परन्तु जहाँ भगवान्ने ज्ञानकी परा निष्ठा बतायी है, वहाँ ज्ञानसे केवल जानना और प्रवेश करना—ये दो ही बताये गये हैं—**'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (गीता १८ । ५५)। भक्तिसे भगवान्के दर्शन भी हो

सकते हैं—यह भक्तिकी विशेषता है, जब कि ज्ञानकी परा निष्ठा होनेपर भी भगवान्‌के दर्शन नहीं होते!

रामायणमें भी भक्तिकी विशेष महिमा बतायी गयी है। उसमें ज्ञानको तो दीपककी तरह बताया है, पर भक्तिको मणिकी तरह बताया है (मानस, उत्तर० ११७—१२०)। दीपकको जलानेमें तो घी, बत्ती आदिकी जरूरत होती है और हवा लगनेसे वह बुझ भी जाता है, पर मणिके लिये न तो घी, बत्ती आदिकी जरूरत है और न वह हवासे बुझती ही है—

परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥

(मानस, उत्तर० १२० । २-३)

इतना ही नहीं, जो मुक्ति ज्ञानके द्वारा बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती है, वही मुक्ति भगवान्‌का भजन करनेसे बिना इच्छा अपने-आप प्राप्त हो जाती है—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(मानस, उत्तर० ११९। २)

इसलिये ज्ञानमार्गको तो बड़ा कठिन बताया गया है—***'ग्यान पंथ कृपान कै धारा'*** (मानस, उत्तर० ११९ । १), पर भक्तिमार्गको बड़ा सुगम बताया गया है—***'भगति कि साधन कहउँ बखानी । सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥'*** (मानस, अरण्य० १६ । ३) भगवान्‌ने भी भक्तोंके लिये अपनी प्राप्ति बड़ी सुगम बतायी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८ । १४)

'हे पार्थ! अनन्य चित्तवाला जो भक्त नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण

करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

ज्ञानमार्गपर चलनेवाला तो अपने साधनका बल मानता है, पर भक्तकी यह विलक्षणता होती है कि वह अपने साधनका बल मानता ही नहीं। कारण कि मैं इतना जप करता हूँ, इतना तप करता हूँ, इतना ध्यान करता हूँ, इतना सत्संग करता हूँ—इस तरह भीतरमें अभिमान रहनेसे भक्ति प्राप्त नहीं होती। जिनका सीधा-सरल स्वभाव है, जो भगवान्‌की कृपापर निर्भर रहते हैं और हरेक परिस्थितिमें मस्त, आनन्दित रहते हैं, उन्हींको भक्ति प्राप्त होती है—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

(मानस, उत्तर० ४६ । १)

जबतक अपने साधनका अभिमान रहता है, तबतक असली भक्ति प्राप्त नहीं होती। भक्ति प्राप्त होनेपर भक्तके मनमें यह बात आती ही नहीं कि मैं भजन करता हूँ। जैसे, हनुमान्‌जी महाराज कहते हैं—***'जानउँ नहिं कछु भजन उपाई'*** (मानस, किष्किन्धा० ३ । २)। हनुमान्‌जी भक्तिके खास आचार्य होते हुए भी कहते हैं कि मैं भजनका उपाय नहीं जानता कि भजन क्या होता है? कैसे होता है? शबरीको पता ही नहीं था कि भक्ति नौ प्रकारकी होती है और वह मेरेमें पूर्णरूपसे विद्यमान है! वह कहती है—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

(मानस, अरण्य० ३५। २)

परन्तु भगवान् उसको कहते हैं—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

....

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

(मानस, अरण्य० ३५ । ४, ३६ । ३-४)

हनुमान्‌जी और शबरी झूठ नहीं बोलते, चतुराई नहीं करते, प्रत्युत सहज-सरल भावसे कहते हैं, क्योंकि उनमें किञ्चिन्मात्र भी अभिमान नहीं है। भक्त अपनेमें कोई विशेषता न देखकर केवल भगवान्‌की कृपा ही मानता है। जब अपनी कोई चीज है ही नहीं, तो फिर अभिमान किस बातका? जब अपनेमें गुण दीखता है और उस गुणको हम अपना मानते हैं, तब अभिमान पैदा होता है। भक्तको अपनेमें कोई गुण दीखता ही नहीं और वह किसी गुणको अपना मानता ही नहीं, अतः उसमें अभिमान पैदा होनेकी गुंजाइश ही नहीं। उसका उपाय और उपेय, साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। वह साधन भी भगवान्‌की कृपासे मानता है और साध्यकी प्राप्ति भी भगवान्‌की कृपासे मानता है।

भगवान्‌की कृपा सबपर बराबर है—*'सब पर मोहि बराबरि दाया'* (मानस, उत्तर० ८७। ४)। जैसे, धूप सबपर समान रूपसे पड़ती है, पर आतशी शीशेमें वह केन्द्रित होकर अग्नि प्रकट कर देती है। अग्नि पैदा करना सूर्यका काम है और उसकी किरणोंको पकड़कर एकाग्र करना आतशी शीशेका काम है। ऐसे ही कृपा करना भगवान्‌का काम है और उनकी कृपाको स्वीकार करना भक्तका काम है। भगवान्‌की कृपामें कोई पक्षपात नहीं है। अपनेमें अभिमान न होनेसे भगवान्‌की कृपाका प्रवाह सीधे आता है। परन्तु अपनेमें कुछ विशेषता दीखती है कि मैं इतना जानता हूँ, मैं इतना समझदार हूँ, मेरेमें इतनी योग्यता है तो अभिमानके कारण उस कृपाके आनेमें बाधा लग जाती है।

अपनेमें थोड़ा भी गुण, विशेषता, पुरुषार्थ, योग्यता दीखती है तो भक्ति प्राप्त नहीं होती। अपना अभिमान भक्तिमें बाधक है। इसलिये कोई अच्छा काम हो जाय तो भक्त उसको अपना न मानकर भगवान्‌का ही किया हुआ मानता है, उसकी स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌की तरफ ही दृष्टि जाती है।

आछी करै सो रामजी, कै सद्गुरु कै सन्त।
भूँडी बणै सो आपकी, ऐसी उर धारन्त॥
ऐसी उर धारन्त, तभी कछु बिगड़ै नाहीं।
उस सेवक की लाज, प्रतिज्ञा राखे सांई॥
संतदास मैं क्या कहूँ, कह गये सन्त अनन्त।
आछी करै सो रामजी, कै सद्गुरु कै सन्त॥

कोई भी अच्छा काम बनता है तो वह भगवान्‌से, सद्गुरुसे अथवा सन्तोंसे बनता है। महर्षि वाल्मीकिजी भगवान्‌से कहते हैं—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥

(मानस, अयोध्या० १३१ । २)

भक्त गुणोंको तो भगवान्‌का मानता है और दोषोंको अपना मानता है। कारण कि गुण भगवान्‌के तथा स्वतःसिद्ध हैं और अवगुण व्यक्तिगत तथा अपने अभिमानसे उत्पन्न होनेवाले हैं। इसलिये उसको ऐसा दीखता है कि जो अच्छा होता है वह भगवान्‌की कृपासे होता है और जो बुरा होता है वह मेरी भूलसे होता है। वास्तवमें बात भी यही सच्ची है। भक्त कोई चालाकी नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, प्रत्युत उसको ऐसा ही दीखता है कि मैं तो जैसा हूँ वैसा ही हूँ! यह तो ठाकुरजीकी कृपासे ऐसा काम बन गया, जिसको लोग मेरा मानकर मेरी बड़ाई कर रहे हैं। जब हनुमान्‌जी लङ्कासे लौटकर भगवान् रामके पास आये, तब भगवान्‌ने उनसे कहा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥

(मानस, सुन्दर० ३२ । ३)

यह सुनकर हनुमान्‌जी 'त्राहि! त्राहि!!' कहते हुए भगवान्‌के चरणोंमें गिर गये—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

(मानस, सुन्दर० ३२)

हनुमान्‌जीपर ऐसी कौन-सी आफत आ रही थी, जिससे बचनेके लिये उन्होंने 'त्राहि! त्राहि!!' (बचाओ! बचाओ!!) कहा? वह आफत थी—अभिमान। भगवान्‌के द्वारा अपनी बड़ाई सुनकर कहीं अभिमान न आ जाय, इसलिये वे त्राहि-त्राहि पुकारने लगे और बोले कि सब कुछ आपके प्रतापसे ही हुआ है मेरे बलसे नहीं—

सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

(मानस, सुन्दर० ३३। ५)

जहाँ अपना अभिमान नहीं होता, वहाँ साधकको कोई बाधा नहीं लगती। बाधा वहीं लगती है, जहाँ अपनेमें कुछ योग्यता, बल, समझदारी, विद्या, वैराग्य, त्याग, जप आदिका अभिमान होता है। भक्त अपनेमें कोई योग्यता नहीं देखता, प्रत्युत अपनेको सर्वथा अयोग्य समझता है। इसलिये उसमें भगवान्‌की योग्यता काम करती है। एक भगवान्‌के शरण हो जाय तो सब काम भगवान् करते हैं-'लाद दे, लदवा दे, लदवानेवाला साथ दे' '**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' (गीता ९। २२)। यह अनन्य भक्ति है। भगवान्‌की एक बान (स्वभाव, आदत या प्रकृति) है कि उनको वही भक्त प्यारा लगता है, जिसका दूसरा कोई सहारा नहीं है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

इसलिये—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

—इस प्रकार अनन्यभावसे केवल भगवान्‌के आश्रित रहे और भजन करे। भजनका भी अभिमान नहीं होना चाहिये कि मैं इतना जप करता हूँ, इतना ध्यान करता हूँ आदि। भक्त जप आदि तो इसलिये करता है कि इनके बिना और करें भी क्या! क्योंकि

बढ़िया-से-बढ़िया काम यही है। परन्तु भजनके द्वारा मैं भगवान्‌को प्राप्त कर लूँगा—यह भाव उसमें नहीं होता। उसका यह भाव होता है कि वास्तवमें भजन भगवान्‌की कृपासे ही हो रहा है और भगवान्‌की प्राप्ति भी उनकी कृपासे ही होगी। भगवान्‌की कृपाके बिना अन्य कोई सहारा न हो—यह अनन्य भक्ति है। अनन्य भक्तिसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं।

भगवान्‌के भजनसे बढ़कर मीठी चीज कोई है ही नहीं। इसलिये भक्त नित्य-निरन्तर भगवान्‌के भजनमें मस्त रहता है। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १० । ९)

'मेरेमें चित्तवाले, मेरेमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जनाते हुए और उनका कथन करते हुए ही नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मेरेमें प्रेम करते हैं।'

कारण कि उनके लिये भगवान्‌के भजनके बिना कोई काम बाकी रहा ही नहीं। भागवतमें आया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

'जो बुद्धिमान् मनुष्य है, वह चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो, चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त हो, चाहे मोक्षकी कामनावाला हो उसे तो केवल तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।'

कोई कहे कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये, मेरेमें किसी तरहकी कुछ भी कामना नहीं है तो क्या करूँ? तो यही उत्तर मिलेगा कि केवल भगवान्‌का भजन करो। कोई कहे कि मेरेको तो सब कुछ

चाहिये, भोग भी चाहिये, मोक्ष भी चाहिये, इज्जत भी चाहिये, नीरोगता भी चाहिये, बेटा-बेटी भी चाहिये तो क्या करूँ? तो यही उत्तर मिलेगा कि केवल भगवान्का भजन करो। कारण कि सब चीजें भगवान् ही दे सकते हैं। पुरुषार्थसे सब चीजें नहीं मिल सकतीं। कोई कहे कि मेरेको केवल मुक्ति चाहिये और कुछ नहीं चाहिये तो क्या करूँ? तो यही उत्तर मिलेगा कि केवल भगवान्का भजन करो। सबके लिये एक ही उपाय है—रात-दिन भगवान्का भजन करना, भगवान्में ही लगे रहना। जैसे, बच्चा केवल माँपर निर्भर रहता है। कोई काम पड़े तो वह केवल माँ-माँ पुकारता है। इसके सिवाय वह क्या कर सकता है? उसमें और क्या करनेकी ताकत है? वह माँ-माँ इसलिये करता है कि उसको 'माँ' नाम बड़ा मीठा, प्यारा लगता है। आदिशंकराचार्यजी महाराज कितने ऊँचे दार्शनिक सन्त होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णको 'माँ' कहते हैं—

मायाहस्तेऽर्पयित्वाभरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं मां
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसे त्वं मदीयं
तत्सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किं नु मूलस्य शान्तिम्॥

(प्रबोधसुधाकर २४४)

'हे कृष्ण नामवाली माँ! मोहरूपी मूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुए मुझ पुत्रको भरण-पोषणके लिये मायाके हाथोंमें सौंपकर तू बहुत दिनोंसे मेरी ओरसे उदासीन हो गयी है। अरी एकमात्र करुणामयी मैया! तू एक बार भी मेरे मुखकी ओर नहीं देखती? हे सर्वज्ञे! क्या तू उस मोहरूपी मूलकी शान्ति करनेमें समर्थ नहीं है?'

ज्ञानी तो आरम्भसे ही अपनेको बड़ा (ब्रह्म) मानने लगता है, परन्तु भक्त अपनेको सदा छोटा (बालक) ही मानता है, कभी बड़ा मानता ही नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥

(मानस, अरण्य० ४३। ४)

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज वृद्ध होनेपर भी अपनेको बालक ही मानते हैं और माँ सीताजीसे कहते हैं—

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥ १॥
दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥ २॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥ ३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥ ४॥

बालकके मनमें अगर कोई बात आ जाय तो वह माँसे ही कहता है। गोस्वामीजीके मनमें बात आयी तो उन्होंने माँ (सीताजी) से कह दी कि रघुनाथजीके सामने यों ही मेरा नाम मत लेना। पहले भक्तोंकी कोई करुण-कथा चलाना और जब रघुनाथजी प्रेममें मस्त हो जायँ, गद्गद हो जायँ, द्रवित हो जायँ, तब मेरा नाम लेना, नहीं तो उनकी दृष्टि मेरे लक्षणोंकी तरफ चली जायगी! मेरा नाम भी सीधे मत लेना। पहले कहना कि एक ऐसा भक्त है, जो आपका नाम लेकर पेट भरता है और आपकी दासी तुलसीका दास कहलाता है। गोस्वामीजी माँको भी लोभ देते हैं कि मैया! मेरा काम बन जायगा तो मैं आपके पति रघुनाथजीके गुण गाऊँगा। यह भक्तोंके भोलेपनकी भाषा है, चालाकीकी भाषा नहीं। भक्तके लिये कहा गया है—***'सरल सुभाव न मन कुटिलाई'*** (मानस, उत्तर० ४६। १)।

कपट गाँठ मन में नहीं, सबसों सरल सुभाव।
'नारायण' ता भक्त की, लगी किनारे नाव॥

२- भक्ति और उसकी महिमा

२. भक्ति और उसकी महिमा

कल्याण-प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सब साधनोंमें भक्ति सर्वश्रेष्ठ है—'**त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।**' (नारदभक्तिसूत्र ८१) भगवान्‌के भजनका नाम भक्ति है। भजनका अर्थ है—सेवन करना। जैसे शरीरके लिये अन्न, जल और वायुका सेवन करते हैं, ऐसे ही स्वयंके लिये भगवान्‌का सेवन करना अर्थात् उनसे प्रेम करना भजन है।

पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
अस बिचारि मुनि पुनि पुनि करत राम गुन गान॥

(मानस, अरण्य० १० में पाठभेद)

प्रेमके समान कोई भजन नहीं है, इसलिये मुनिजन बार-बार भगवान्‌का गुणगान करते हैं—इसका तात्पर्य है कि भगवान्‌का गुणगान करनेसे उनमें प्रेम हो जाता है। भगवान् अच्छे लगें, मीठे लगें, प्यारे लगें—यह प्रेम है। जड, नाशवान् पदार्थोंमें अर्थात् रुपयोंमें, भोगोंमें, कुटुम्बियोंमें, शरीरमें हमारा जो आकर्षण है, वह छूटकर केवल भगवान्‌में आकर्षण हो जाय—इसका नाम प्रेम है। वास्तवमें हमारा आकर्षण भगवान्‌की तरफ ही है, पर नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देनेसे वह आकर्षण संसारमें हो गया। जैसे गङ्गाजल इतना पवित्र है कि उसका दर्शन करनेसे सैकड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। परन्तु वर्षा-ऋतुमें बढ़नेके बाद जब वह घटती है, तब उसका कुछ जल गड्ढोंमें रह जाता है। गड्ढोंका वह जल 'गङ्गोज्झ' कहलाता है, जो मदिराके समान अशुद्ध होता है। कारण कि वह गङ्गाजीके प्रवाहसे अलग हो गया, गङ्गाजीसे विमुख हो गया, गङ्गाजीने उसका त्याग कर दिया। हम अपना कलश गङ्गाजीसे भरकर लायें तो वह अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि उसको हमने गङ्गाजीसे लिया है, गङ्गाजीने उसका त्याग नहीं किया है।

ऐसे ही भगवान् महान् पवित्र हैं—'**पवित्रं परमं भवान्**' (गीता १०। १२) और उनका अंश होनेसे हम स्वयं भी पवित्र हैं—'***चेतन अमल सहज सुख रासी***' (मानस, उत्तर० ११७। १)। परन्तु हमारा आकर्षण भगवान्‌में न होकर नाशवान् भोगोंमें हो गया तो हमारा जीवन गङ्गोज्झ हो गया, महान् अपवित्र हो गया। जैसे गङ्गाजीका प्रवाह बढ़नेसे गङ्गोज्झ पुनः गङ्गाजीमें मिलकर महान् पवित्र बन जाता है, ऐसे ही हमारा आकर्षण भगवान्‌में हो जाय तो हमारा सम्पूर्ण जीवन महान् पवित्र हो जायगा।

जैसे गङ्गाजीका प्रवाह निरन्तर समुद्रकी तरफ जाता है, ऐसे ही आठों पहर हमारी वृत्तियोंका प्रवाह भगवान्‌की तरफ जाना चाहिये। भगवान् हमें दर्शन दें या न दें, हमें स्वीकार करें या न करें, पर हमारा मन केवल भगवान्‌की तरफ ही चलना चाहिये। जैसे, भरतजी महाराजने कहा है—

जानहुँ राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

(मानस, अयोध्या० २०५। १)

पार्वतीजीने भी कहा है—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस, बाल० ८१। ३)

इस तरह प्रेममें भक्तका मन केवल भगवान्‌की तरफ ही चलता है। प्रेमको मोक्षसे भी बढ़कर माना गया है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। प्रेम इन चारोंसे भी आगे पञ्चम पुरुषार्थ है। मोक्षमें मनुष्य अपना सुख चाहता है, पर प्रेममें वह भगवान्‌का सुख चाहता है। प्रेमी भक्तोंका ऐसा भाव रहता है कि हमें नरकोंमें भी जाना पड़े तो कोई हर्ज नहीं, पर

सत्सङ्गतिका परिणाम

कुछ वर्ष पहलेकी बात है। मेरा भानजा मेरे पास रहता था और नीचे कपड़ेकी दूकानमें अकेला ही सोता था। एक दिन अल्मारीमेंसे छः सौ रुपये निकालकर ले गया। कई वर्षोंके बाद इसी ज्येष्ठमें वह आया और अपनी मामीके चरणोंमें गिरकर बोला—'मामीजी! यह लो अपने रुपये। मैं आपका बच्चा हूँ। मेरे अपराधको क्षमा करो।' उसकी मामीने रुपये लेनेको बहुत ही इन्कार किया, परंतु मना करनेपर भी वह रुपये देकर चला गया। लगभग एक महीने बाद उसका पत्र आया। उसमें लिखा था—'श्रीमामाजी तथा मामीजीके चरणोंमें अनन्त बार नमस्कार। मैं आपके छः सौ रुपये लौटा देनेमें अपनी कोई मानवता नहीं समझता। वे तो मुझे देने ही थे। इस जन्ममें न देता, किसी और जन्ममें बैल, गधा आदि बनकर देता। अमानत, चोरी-ठगी, अन्याय आदिका पैसा भगवान्‌के कानूनमें वापिस देना पड़ता है। यमदूतोंकी मार और नरककी यात्रा रही अलग।' तभी तो श्रीभक्त कबीरजीने हमारी भलाईके लिये कहा है—

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय॥

और फिर अन्यायका पैसा ठहरता भी नहीं। नीतिमें कहा है—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

'अन्यायसे पैदा किया हुआ धन अधिक-से-अधिक दस वर्ष ठहरता है। ग्यारहवें वर्ष वह धन मूलसहित नष्ट हो जाता है।'

इस प्रकारके बहुत-से वाक्य पत्रमें लिखे थे। मैं तो यही कहूँगा कि रुपये निकालना कुसङ्गका प्रभाव था—

को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥

और रुपये लौटा देना प्रभुकी कृपा तथा सत्सङ्गका प्रभाव—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

तभी तो गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने स्वर्ग और मोक्षके सुखसे सत्सङ्गके सुखको बड़ा बताया है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

—रामस्वरूप बजाज

दस्युओंद्वारा उपकारका बदला और ब्राह्मणका त्याग

आज इस भौतिक युगमें मानवता एवं नैतिकताका दिनोंदिन ह्रास हो रहा है। मनुष्य अपने स्वार्थके लिये बुरे-से-बुरे, जघन्य-से-जघन्य काम करनेमें भी नहीं हिचकता। नीचे एक सच्ची घटना लिखी जा रही है, जिसमें लुटेरों एवं एक त्यागी विप्रके कृतज्ञता और त्यागका वर्णन है। घटना यद्यपि कुछ वर्षों पुरानी है। चित्तौड़ जिलेके एक कस्बेमें भगवद्भक्त ब्राह्मण सपरिवार रहते थे। वे सात्त्विक जीवन व्यतीत करते थे। उस समय आजकल-जैसा बाहरी आडम्बर गाँवोंमें नहीं पहुँचा था। अमीर-गरीब, हिंदू-मुसलिमका भेदभाव भी वहाँ नहीं था। ग्रामवासी सीधे-सादे, सात्त्विक, एक-दूसरेके दुःख-सुखमें सहायता करनेवाले, निष्कपट, परिश्रमी एवं आस्तिक होते थे। इन ब्राह्मण सज्जनमें ये सभी गुण मौजूद थे। गीताका नित्य पाठ करते थे। संध्या, हवन, पाठ-पूजा करना इनका नित्यका कर्म था। रियासतकी ओरसे इन्हें कृषिके लिये कुछ भूमि मिली हुई थी। गाँवके वैष्णव-मन्दिरके पुजारी भी थे। एक दिन प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें ये जब शौचादिसे निवृत्त हो लौट रहे थे तो मार्गमें इन्हें कुछ आदमी मिले और उन्होंने इन्हें ब्राह्मण समझकर प्रणाम किया।

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ११ । २६)

'जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँकी प्रतीक्षा करते हैं, जैसे केवल दूधपर निर्भर रहनेवाले भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे विरहिणी पतिव्रता स्त्री अपने पतिसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन भी आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है।'

माता पार्वतीके शापसे वृत्रासुर ऊपरसे तो असुर बन गया था पर भीतरसे वह भगवान्‌का प्रेमी भक्त था। इसलिये वह कहता है—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २५)

'सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकक्षत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ, यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।'

प्रेमी भक्त मुक्ति नहीं चाहते, क्योंकि बन्धन होनेसे ही मुक्तिकी इच्छा होती है। संसारमें राग होना ही बन्धन है। प्रेमी भक्तोंमें सांसारिक रागरूप बन्धन रहता ही नहीं। उसका तो बस, एक ही बन्धन रहता है—

अब तो बन्ध मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बन्धन है, मुक्ति चरणसे झरती है॥

भगवान्‌का मुख ही भक्तोंके लिये बन्धन है, जो नित्य नया-नया होता रहता है।

दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम्। (कृष्णाष्टक ५)

'आज अनूप बनी, युगल छवि आज अनूप बनी।'

इसलिये भक्तिका रस प्रतिक्षण स्वाभाविक बढ़ता रहता है। ज्ञानका आनन्द तो अखण्ड, शान्त, एकरस रहता है, पर भक्तिका आनन्द अनन्त होता है। चन्द्रमाकी कलाएँ बढ़ती हैं तो उसकी पूर्णिमा आ जाती है, पर भगवत्प्रेमरूपी चन्द्रमें कभी पूर्णिमा आती ही नहीं—

प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यों ससिकला सुबेष।
पै पूनौ यामें नहीं, तातें कबहुँ न सेष॥ (पद-रत्नाकर ६४६)

भगवान्‌की अनन्त शक्तियोंमें दो विशेष शक्तियाँ हैं—ऐश्वर्य और माधुर्य। ऐश्वर्यमें प्रभाव है और माधुर्यमें प्रेम है। उस माधुर्यमें भगवान् अपना ऐश्वर्य, अपना प्रभाव, अपनी भगवत्ता भूल जाते हैं। भक्तोंका प्रेम भगवान्‌को भोला बना देता है। माता यशोदा भगवान् श्रीकृष्णको पकड़ लेती हैं तो वे डरके मारे रोने लग जाते हैं कि मैया मारेगी! भय भी जिनसे भयभीत होता है, वे भगवान् माँसे भयभीत हो जाते हैं—यह भगवान्‌का माधुर्य है!

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ भगवान् वशमें हो जाते हैं। भक्त भगवान्‌से प्रेम करते हैं तो भगवान् सोचते हैं कि मैं इनको क्या दूँ? गोपिकाएँ भगवान्‌से प्रेम करती हैं तो भगवान् कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'मेरे साथ सर्वथा निर्दोष सम्बन्ध जोड़नेवाली तुम गोपिकाओंका मेरेपर जो ऋण है, उसको मैं देवताओंके समान लम्बी आयु पाकर भी नहीं चुका सकता। कारण कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी घरकी जिस ममतारूपी बेड़ियोंको सुगमतासे नहीं तोड़ पाते, उनको

तुमलोगोंने तोड़ डाला है।'

भगवान्‌के द्वारा अपनेको ऋणी कहनेका तात्पर्य है कि तुमलोगोंका मेरे प्रति जैसा प्रेम है, वैसा मेरा तुम्हारे प्रति नहीं है। कारण कि मेरेको छोड़कर तुम्हारा और किसीमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेम नहीं है, पर मेरा अनेक भक्तोंमें प्रेम है! अत: मैं तुम्हारे साथ बराबरी नहीं कर सकता। जैसे तुम मेरे सिवाय किसीको नहीं मानतीं, ऐसे ही मैं भी तुम्हारे सिवाय किसीको न मानूँ, तभी बराबरी हो सकती है! परन्तु मेरे तो अनेक भक्त हैं, जिनको मैं मानता हूँ। इसलिये मैं तुम्हारा ऋणी हूँ!

यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई।

(विनयपत्रिका १६५। ५)

जो दीन होते हैं, छोटे होते हैं, शरणागत होते हैं, केवल भगवान्‌के परायण होते हैं, उनका आदर भगवान्‌के यहाँ होता है। जो भगवान्‌से प्रेम करते-करते अघाते नहीं, भगवान् उनके वशीभूत हो जाते हैं और चाहे जो कर देते हैं। प्रेमके वशमें होकर वे सारथि बनकर घोड़े हाँकते हैं, जूठी पत्तलें उठाते हैं और उसमें राजी होते हैं। जैसे माँको बालकका मल-मूत्र उठानेमें भी आनन्द आता है, ऐसे ही भगवान्‌को भक्तोंका छोटे-से-छोटा काम करनेमें भी आनन्द आता है। माँमें तो स्वार्थ और ममता होती है, पर भगवान्‌में न स्वार्थ है, न ममता है, प्रत्युत केवल प्रेम है। जो छोटे आदमी होते हैं वे तो बड़ा बनना चाहते हैं कि हम इतने बड़े हो जायँ। परन्तु भगवान् सबसे बड़े ठहरे, अत: उनको छोटा बननेमें आनन्द आता है।

मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि।

इसलिये भगवान् भक्तोंकी महिमा गाते हुए तृप्त नहीं होते। यह भक्तिकी महिमा है! वह भक्ति दो प्रकारकी होती है। साधनभक्ति और साध्यभक्ति। साधनभक्तिसे साध्यभक्ति प्राप्त होती है—'**भक्त्या संजातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३ । ३१)। साधनभक्तिके नौ

प्रकार हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

'श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह नवधा भक्ति है।' इसके तीन-तीन प्रकारके भेद हैं। श्रवण, कीर्तन और स्मरण—इन तीनोंमें भक्त अपनेको भगवान्‌से दूर समझता है। पादसेवन, अर्चन और वन्दन—इन तीनोंमें भक्त भगवान्‌को नजदीक समझता है। दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—इन तीन भावोंमें भक्त भगवान्‌को बहुत नजदीक समझता है। इस प्रकार श्रवणसे लेकर आत्मसमर्पणतक भक्त क्रमशः अपनेको भगवान्‌के नजदीक मानता है। आत्मसमर्पणमें भक्त सर्वथा भगवान्‌में तल्लीन हो जाता है।

भक्तका पहले दास्यभाव होता है, जिसमें वह भगवान्‌को मालिक और अपनेको उनका दास मानता है। इस भावमें संकोच, लज्जा होती है कि मैं तो दास हूँ, कहीं मेरेसे कोई गलती न हो जाय! ऐसा होते-होते फिर सख्यभाव हो जाता है। सख्यभावमें भक्त भगवान्‌को अपना सखा मानता है, उसकी भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है। इस भावमें दास्यभावकी तरह कोई संकोच या भय नहीं रहता। भगवान् सखाओंके साथ खेलते हैं। खेलमें वे हार जाते हैं पर कहते हैं कि मैं तो जीत गया! तब सखा उनको खेलसे बाहर कर देते हैं और कहते हैं कि हम तुम्हें अपने साथ खेलायेंगे ही नहीं! तुम्हारी गायें अधिक हो गयीं तो क्या तुम बड़े आदमी हो गये?

खेलत में को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबसहीं कत करत रिसैयाँ॥

जाति-पाँति हम ते बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ॥
रूठहि करै तासौं को खेलै, बैठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ॥

भगवान्‌के प्रभावका ज्ञान होते हुए भी गोपिकाएँ भगवान्‌को सखा मानती हैं और कहती हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

'हे सखे! आप केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्माके साक्षी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर विश्वकी रक्षाके लिये ही आप यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं।'

आत्मसमर्पणमें भक्त अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है। उसके पास अपनी कहलानेवाली कोई चीज नहीं रहती, सब चीज भगवान्‌की हो जाती है। अपना शरीर, अपनी इन्द्रियाँ, अपना मन, अपनी बुद्धि, अपने प्राण, अपना अहम्—सब भगवान्‌का ही हो जाता है, अपना नहीं रहता। इस प्रकार आत्मसमर्पणके बाद साध्यभक्ति अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त हो जाती है। प्रेमलक्षणा भक्तिमें कौन भक्त है और कौन भगवान्, कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद—इसका पता नहीं चलता अर्थात् भक्त और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**' (नारदभक्तिसूत्र ४१), '**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्**' (गीता ९। २९)।

३- भगवान्‌का सगुण स्वरूप और भक्ति

३. भगवान्‌का सगुण स्वरूप और भक्ति

१. गीतामें समग्र (सगुण) की मुख्यता

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(६। ४६)

'तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है। अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा।'

—इस प्रकार योगकी महिमा बताकर फिर भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे (प्रेमपूर्वक) मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है*।'

तात्पर्य है कि कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें मेरा भक्त सर्वश्रेष्ठ है। जैसे भगवान्‌की बात चले तो भक्त

---

* अपने भक्तके विषयमें ऐसी बात भगवान्‌ने आगे भी कही है; जैसे—

(१) मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। (७। १)

(२) जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। (७। २९)

(३) मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (१२। २)

(४) ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ (१२। २०)

उसीमें मस्त हो जाता है, उसको दूसरी बात सुहाती ही नहीं, ऐसे ही यहाँ भक्तकी बात चली तो भगवान् भी मस्त हो गये, दूसरी सब बातें भूल गये और उनके भीतर भक्तिकी बात कहनेका प्रवाह उमड़ पड़ा। अतः अर्जुनके द्वारा प्रश्न किये बिना ही भगवान्ने अपनी तरफसे सातवाँ अध्याय शुरू कर दिया।

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिससे तू मेरे 'समग्र'रूपको जान जायगा, जिसको जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा। अन्तमें अपने समग्ररूपका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(७। २९-३०)

'जरा और मरणसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे युक्तचेता मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

गीतामें भगवान्ने जन्म-मरणकी बात तो कई जगह कही है, पर 'जरा-मरण' की बात इन्हीं श्लाकोंमें कही है। तात्पर्य है कि जो भगवान्की भक्ति करता है, वह जरा और मरण दोनोंसे मुक्त हो जाता है अर्थात् उसको शरीरके रहते हुए वृद्धावस्थाका भी दुःख नहीं होता और गतिके विषयमें भी दुःख नहीं होता कि मरनेके बाद मेरी क्या गति होगी? वे भगवान्का अश्रय लेकर यत्न

करते हैं, इसलिये वे भगवान्‌के समग्ररूपको जान जाते हैं अर्थात् विज्ञानसहित ज्ञानको जान जाते हैं। ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), अध्यात्म (अनन्त जीव) तथा कर्म (सृष्टि-रचनारूप कर्म)*—यह 'ज्ञान' (निर्गुण) का विभाग है और अधिभूत (अनन्त ब्रह्माण्ड), अधिदैव (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा) तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु)—यह 'विज्ञान' (सगुण)का विभाग है—इन दोनों विभागोंको वे शरणागत भक्त जान जाते हैं। कारण कि समग्रका ज्ञान विचारसे नहीं होता प्रत्युत शरणागत होनेपर भगवत्कृपासे होता है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मका नाम भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत आया है। लोगोंमें प्राय: इस बातकी प्रसिद्धि है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके अन्तर्गत ही सगुण ईश्वर है। ब्रह्म मायारहित है और ईश्वर मायासहित है। अत: ब्रह्मके एक अंशमें ईश्वर है। परन्तु गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि मेरे समग्ररूपके एक अंशमें ब्रह्म है! इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्मका आधार बताया है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (गीता १४। २७) 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हूँ' तथा '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' भगवान्‌के इस कथनका तात्पर्य है कि ब्रह्मका अंश मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मेरा अंश ब्रह्म है। अत: निष्पक्ष विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि गीतामें केवल ब्रह्मकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत समग्र भगवान्‌की मुख्यता है। पूर्ण तत्त्व समग्र ही है। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब आ जाते हैं।

* भगवान्‌का यह सृष्टि-रचनारूप कर्म वास्तवमें 'अकर्म' ही है। भगवान्‌ने कहा भी है—'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्' (गीता ४। १३) 'उस सृष्टि-रचनाका कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।' इसीलिये इस कर्मको भगवान्‌ने 'त्याग' कहा है—'विसर्गः कर्मसंज्ञितः' (८। ३)।

वास्तवमें देखा जाय तो समग्ररूप सगुणका ही हो सकता है; क्योंकि सगुणके अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। अत: समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं।

निर्गुण-निराकारको माननेवाले जीव और ब्रह्मको स्वरूपसे एक ही मानते हैं*। गीतामें भी जीव और ब्रह्मके समान लक्षणोंका वर्णन हुआ है। भगवान्ने देही (देहवाले जीव) के जो लक्षण कहे हैं, वही लक्षण देहरहित ब्रह्मके भी कहे हैं †। तात्पर्य यह हुआ कि देहसहित होनेसे जो जीव है, वही देहरहित होनेसे ब्रह्म है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। इसलिये निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह उपासक है और जो देहरहित है, वह 'उपास्य' है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें खास बाधक है। इसलिये देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे तथा देरीसे होती है—**'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते'** (गीता १२। ५)। परन्तु सगुणोपासनामें देहका सम्बन्ध बाधक नहीं है प्रत्युत भगवान्की विमुखता बाधक है। अत: भक्त आरम्भसे ही मैं

---

* ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः॥ (ब्रह्मज्ञानावलीमाला २०)

† उदाहरणार्थ—गीतामें भगवान्ने दूसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'अव्यय' बीसवें श्लोकमें 'पुराण', चौबीसवें श्लोकमें 'सर्वगत', 'अचल' और 'सनातन' तथा पचीसवें श्लोकमें 'अव्यक्त' और 'अचिन्त्य' आदि लक्षण जीवात्माके बताये हैं। यही लक्षण परमात्माके लिये भी बताये हैं, जैसे— 'अव्यय' (१८। २०), 'पुराण' (८। ९), 'सर्वगत' (३। १५), 'अचल' (१२। ३), 'सनातन' (४। ३१) , 'अव्यक्त' (१२। ५) और 'अचिन्त्य' (८। ९; १२। ३) आदि। भगवान्ने जैसे—'येन सर्वमिदं ततम्' (२। १७) कहकर जीवात्माको सर्वव्यापक बताया है, ऐसे ही 'येन सर्वमिदं ततम्' (८। २२, १८। ४६) कहकर परमात्माको भी सर्वव्यापक बताया है।

भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसा मानकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है। इसलिये सगुणोपासकका भगवान्‌की कृपासे शीघ्र ही तथा सुगमतासे उद्धार हो जाता है*। कारण कि भक्त साधनके आश्रित न होकर भगवान्‌के आश्रित होता है। यह सगुणोपासनाकी विलक्षणता है! सगुणोपासनाकी दूसरी विलक्षणता यह है कि इसमें भक्त जगत्‌को मिथ्या मानकर उसका त्याग करनेपर जोर नहीं देता, क्योंकि उसकी मान्यतामें जड-चेतन, स्थावर-जंगम, सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। इसलिये सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, जगत्, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा तथा अन्तर्यामी विष्णु—इन सबको समग्र भगवान्‌के ही अंग माना है (७। २९-३०)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्‌के एक अंशकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्‌की उपासना है!†

---

* तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता १२। ७)

'हे पार्थ! मेरेमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

† जो समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना करता है, उसको भी अन्तमें समग्रकी प्राप्ति हो जाती है (गीता १२। ३-४; १८। ५३—५५)। अतः जिसको निर्गुण अच्छा लगता हो, वह निर्गुणकी उपासना करे पर उसको निर्गुणका आग्रह रखकर सगुणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। सगुणका तिरस्कार, निन्दा, खण्डन करना निर्गुणोपासकके लिये बहुत घातक है।

निर्गुण-निराकार ब्रह्म और नाशवान् जगत्—दोनों ही समग्र भगवान्‌के ऐश्वर्य हैं*। भक्त ऐश्वर्यसे प्रेम नहीं करता, प्रत्युत ऐश्वर्यवालेसे प्रेम करता है। इसलिये भगवान्‌ने समग्रकी उपासना करनेवालेको सर्वश्रेष्ठ बताया है (गीता ६। ४७। १२। २) और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अर्थात् समग्रका अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ कहा है—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७। १९)।

यदि गहराईसे विचार किया जाय तो सगुणकी मुख्यता ही ठीक जँचती है। केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता, जब कि केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। आजकल सगुणको मायायुक्त मानकर उसका तिरस्कार किया जाता है—यह उचित नहीं है†। सगुण मायायुक्त नहीं है, प्रत्युत मायाका अधिपति (मालिक) है। सनकादिक, शुकदेव, जनक आदि तत्त्वज्ञ महापुरुषोंका सगुणमें स्वाभाविक प्रेम था, जो समय-समयपर प्रकट होता रहता था।

---

* विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ (गीता १०। ४२)

'मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ।'

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ (गीता ११। ७)

'हे गुडाकेश! मेरे इस शरीरके एक देशमें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को अभी देख ले। इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले।'

† प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ (गीता ४। ६)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गीता ९। १०)

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥
(मानस, बाल० ११७। ४)

माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
(मानस, उत्तर० ७८। ३-४)

श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(१। ७। १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जडग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं, क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

२. परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल हैं

जिससे सृष्टिमात्रका संचालन होता है, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होता है, ऐसी एक शक्ति परमात्मामें माननी ही पड़ेगी। यदि परमात्मामें कोई शक्ति स्वीकार न करें तो सृष्टि-रचना आदि कार्य सिद्ध नहीं होंगे। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने, जो निर्गुणको मुख्य मानते थे, एक बार मेरेसे एकान्तमें कहा था कि परमात्मामें एक शक्ति माननी ही पड़ेगी, माने बिना काम नहीं चलता।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि सबका निषेध होनेपर एक शून्य ही शेष रहता है, अतः शून्यके सिवाय कुछ नहीं है। अगर शून्यके सिवाय कुछ नहीं है—यह बात सच्ची है तो फिर इस बातका ज्ञान किसको हुआ? शून्यका ज्ञाता शून्य नहीं हो सकता। दूसरी बात, अगर शून्यके सिवाय कुछ नहीं है तो फिर यह सृष्टि कैसे पैदा हुई? अभावसे भाव कैसे पैदा हो सकता है—**'कथमसतः सज्जायेतेति'**—('छान्दोग्य० ६। २। २)? इसलिये ब्रह्मसूत्रके आरम्भमें ही आया है—**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः'** (१। १। १-२)।

'अब यहाँसे ब्रह्मविषयक विचार आरम्भ किया जाता है। इस जगत्‌के जन्म आदि (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय) जिससे होते

हैं वह ब्रह्म है।'

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् । (२। १। ३०)

'वह ब्रह्म समस्त शक्तियोंसे सम्पन्न है, क्योंकि श्रुतियोंमें ऐसा ही देखा जाता है।'

तात्पर्य है कि परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियोंका, विद्याओंका, कलाओंका विलक्षण भण्डार है। शक्तियाँ जड प्रकृतिमें नहीं रह सकतीं, प्रत्युत चिन्मय परमात्मतत्त्वमें ही रह सकती हैं। ज्ञानपूर्वक होनेवाली चीज जडमें कैसे रह सकती है? अगर ऐसा मानें कि सब शक्तियाँ प्रकृतिमें ही हैं तो भी यह मानना पड़ेगा कि उन शक्तियोंका उपयोग (सृष्टि-रचना आदि) करनेकी योग्यता प्रकृतिमें नहीं है। जैसे, कम्प्यूटर जड होते हुए भी अनेक विचित्र कार्य करता है, पर उसका निर्माण और संचालन करनेवाला चेतन (मनुष्य) है। मनुष्यके द्वारा निर्मित, शिक्षित तथा संचालित हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्वतःसिद्ध नहीं है प्रत्युत बनावटी (बनाया हुआ) है, जब कि परमात्मा स्वतःसिद्ध हैं। संसारमें तरह-तरहके आविष्कार होते हैं, पर आविष्कार करनेवाला चेतन ही होता है। अतः संसारमें जो भी विशेषता, विलक्षणता देखी जाती है, वह सब परमात्मासे ही आती है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(गीता १०। ४१)

'जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त वस्तु है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज (योग) के अंशसे उत्पन्न हुई समझो।'

यदि परमात्मामें शक्ति न होती तो वह संसारमें कैसे आती? जो शक्ति बीजमें होती है, वही वृक्षमें आती है। जो शक्ति बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? उसी परमात्माकी वक्तृत्व-शक्ति

वक्तामें आती है, उसीकी लेखन-शक्ति लेखकमें आती है, उसीकी दातृत्व-शक्ति दातामें आती है, उसीकी कवित्व-शक्ति कविमें आती है। मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि सब उस परमात्माका ही दिया हुआ है। यह प्रकृतिका कार्य नहीं है। अगर 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर बन्धन कहाँसे आया? अगर 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर अज्ञान कहाँसे आया? कैसे आया? क्यों आया? कब आया? सूर्यमें अमावसकी रात कैसे आ सकती है? वास्तवमें ज्ञान है तो परमात्माका, पर मान लिया अपना, तभी अज्ञान आया है*। 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; ज्ञान मेरा है'—यह 'मैं' और 'मेरा' (अहंता-ममता) ही अज्ञान है। जिससे मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि मिले हैं, उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे ही ऐसा दीखता है कि मुक्ति मेरी है, ज्ञान मेरा है, प्रेम मेरा है। यह तो देनेवाले-(परमात्मा) की विलक्षणता है कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है! मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तको तो अपनी मान लेता है पर जहाँसे वह मिली है, उस तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर देनेवालेको देखता ही नहीं! कार्यको तो देखता है, पर जिसकी शक्तिसे कार्य हुआ, उस कारणको देखता ही नहीं! वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है प्रत्युत देनेवाला अपना है। प्रह्लादजी कहते हैं—

* ज्ञान अथवा जाननेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है। प्रकृति एकरस रहनेवाली नहीं है प्रत्युत प्रतिक्षण बदलनेवाली है। अगर प्रकृतिमें ज्ञान होगा तो वह ज्ञान भी एकरस न रहकर बदलनेवाला हो जायगा। जो ज्ञान पैदा होगा, वह सदाके लिये नहीं होगा, प्रत्युत अनित्य होगा। अगर कोई माने कि ज्ञान प्रकृतिमें ही है तो उसी प्रकृतिको हम परमात्मा कहते हैं, केवल शब्दोंमें फर्क है! तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान प्रकृतिमें नहीं है, अगर है तो वही परमात्मा है।

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥

(विष्णुपुराण १। १७। २०)

'हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्के उपदेशक हैं। हे तात! उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसको कुछ सिखा सकता है? नहीं सिखा सकता।'

ध्रुवजी कहते है—

योऽन्तःप्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(श्रीमद्भा० ४। ९। ६)

'प्रभो! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। आप ही मेरे अन्तःकरणमें प्रवेश करके अपने तेजसे मेरी इस सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान, त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतनता देते हैं। मैं आप अन्तर्यामी भगवान्को प्रणाम करता हूँ।'

केनोपनिषद्में आता है—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। (३। १)

'परब्रह्म परमेश्वरने ही देवताओंके लिये (उनको निमित्त बनाकर) असुरोंपर विजय प्राप्त की। परन्तु उस परब्रह्म परमेश्वरकी विजयमें इन्द्रादि देवताओंने अपनेमें महत्त्वका अभिमान कर लिया। वे ऐसा समझने लगे कि यह हमारी ही विजय है और यह हमारी ही महिमा है।'

देवताओंके इस अभिमानको नष्ट करनेके लिये परब्रह्म परमात्मा

उनके सामने यक्षरूपसे प्रकट हो गये। उसको देखकर देवतालोग आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगे कि यह यक्ष कौन है? उसका परिचय जाननेके लिये देवताओंने अग्निदेवको उसके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर अग्निदेवने कहा कि मैं जातवेदाके नामसे प्रसिद्ध अग्निदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको जलाकर भस्म कर सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको जला दो। अग्निदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं जला सका और लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया एवं बोला कि वह यक्ष कौन है—यह मैं नहीं जान सका। तब देवताओंने वायुदेवको यक्षके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर वायुदेवने कहा कि मैं मातरिश्वाके नामसे प्रसिद्ध वायुदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको उड़ा सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने भी एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको उड़ा दो। वायुदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं उड़ा सका और लज्जित होकर लौट आया एवं देवताओंसे बोला कि वह यक्ष कौन है--यह मैं नहीं जान सका। तब देवताओंने इन्द्रको उस यक्षका परिचय जाननेके लिये भेजा। परन्तु इन्द्रके वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया और उस जगह हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयीं। इन्द्रके पूछनेपर उमादेवीने कहा कि परब्रह्म परमात्मा ही तुमलोगोंका अभिमान दूर करनेके लिये यक्षरूपसे प्रकट हुए थे। तात्पर्य है कि परमात्मा ही सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल हैं। उपनिषदोंमें आया है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वेताश्वतर० ६। ८)

'इस परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप स्वाभाविक दिव्य शक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती है।'

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ (माण्डूक्य० ६)

'यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह सबका अन्तर्यामी है, यह सम्पूर्ण जगत्‌का कारण है, क्योंकि समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका स्थान यही है।'

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। (तैत्तिरीय० ३। १)

'ये सब प्रत्यक्ष दीखनेवाले प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्तमें इस लोकसे प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको तत्त्वसे जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है।'

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। (तैत्तिरीय० २। १)

'निश्चय ही उस परमात्मासे पहले-पहल आकाश-तत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जल-तत्त्वसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वीसे समस्त ओषधियाँ उत्पन्न हुईं, ओषधियोंसे अन्न उत्पन्न हुआ और अन्नसे यह मनुष्यशरीर उत्पन्न हुआ।'

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।

(श्वेताश्वतर० ६। १६)

'वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण जगत्‌का रचयिता, सर्वज्ञ, स्वयं ही अपने प्राकट्यका हेतु, कालका भी महाकाल, सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे सम्पन्न और सबको जाननेवाला है।'

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥

(मुण्डक० १। १। ९)

'जो सर्वज्ञ तथा सबको जाननेवाला है, जिसका ज्ञानमय तप

है, उसी परमेश्वरसे यह विराट्‌रूप जगत् तथा नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं।'

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

(मुण्डक० २।१।३)

'इसी परमेश्वरसे प्राण, मन (अन्तःकरण), समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।'

उपनिषदोंमें आयी उपर्युक्त बातें सगुण परमात्माकी हैं, निर्गुण आत्माकी नहीं। गीतामें भी सगुण परमात्मासे ही सृष्टिकी उत्पत्ति आदि बतायी गयी है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

(९।७-८)

'हे कुन्तीनन्दन! कल्पोंका क्षय होनेपर सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पोंके आदिमें मैं फिर उनकी रचना करता हूँ। प्रकृतिके वशमें होनेसे परतन्त्र हुए इस प्राणिसमुदायको मैं (कल्पोंके आदिमें) अपनी प्रकृतिको वशमें करके बार-बार रचता हूँ।'

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(९।१०)

'प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को रचती है।'

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

(७।६)

'मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ।'

३. सबके शासक परमात्मा हैं

हम जिस संसारमें बैठे हैं, उसका शासक, स्वामी सगुण ईश्वर ही है। जैसे राज्यमें राजाकी मुख्यता होती है, ऐसे ही संसारमें सगुण ईश्वरकी मुख्यता है। जैसे प्रत्येक समुदायका एक शासक होता है, ऐसे ही सृष्टिका भी कोई शासक होना चाहिये। शासक निर्गुण-निराकार नहीं हो सकता, क्योंकि निर्गुण-निराकारमें कोई स्फुरणा पैदा होती ही नहीं। अत: शासक सगुण-साकार ही हो सकता है। उपनिषदोंमें भी परमात्माको सबका शासक, स्वामी बताया गया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन दोनों (क्षर और अक्षर) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

(श्वेताश्वतर० ५। १)

'विनाशशील जडवर्ग तो अविद्या नामसे कहा गया है और अविनाशी जीवात्मा विद्या नामसे कहा गया है। जो इन विद्या और अविद्या दोनोंपर शासन करता है, वह परमेश्वर इन दोनोंसे भिन्न—सर्वथा विलक्षण है।'

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत…।

(बृहदारण्यक० ३। ८। ९)

'हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें द्युलोक और पृथ्वी विशेषरूपसे धारण किये हुए

स्थित रहते हैं.....।'

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठ० २।३।३)

'इसीके भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है तथा इसीके भयसे भयभीत होकर इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता अपने-अपने काममें प्रवृत्त हो रहे हैं।'

गीतामें आया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५।१६-१७)

'इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर नाशवान् और कूटस्थ (जीवात्मा) अविनाशी कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो अन्य ही है जो परमात्मा नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।'

४. परमात्माके सगुण स्वरूपकी मुख्यता

गीतामें भगवान्‌ने प्रकृतिको अनादि कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३।१९)

यदि निर्गुणको सर्वोपरि मानें तो उनकी शक्ति प्रकृति अनादि कैसे होगी? अतः वास्तवमें सगुण ही सर्वोपरि है। इसलिये गीतामें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णको 'ब्रह्म' नामसे कहा गया है, जैसे—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। (५।१०)

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। (१०। १२)

गीतामें ब्रह्मके तीन नाम बताये गये हैं—'**ॐ**', '**तत्**' और '**सत्**' (१७। २३)। नाम-नामीका सम्बन्ध होनेसे यह भी सगुण ही हुआ। वैष्णवलोग भी सगुण-साकार भगवान्‌के उत्सवको 'ब्रह्मोत्सव' नामसे कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१। २। ११)

'तत्त्वज्ञ महापुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।'

निर्गुण-निराकारके अनन्य उपासक मधुसूदनाचार्यजीको भी कहना पड़ा—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'अद्वैतमार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमें गोपियोंके पीछे-पीछे फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक अपने चरणोंका गुलाम बना लिया!'

इसलिये उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि भगवान् श्रीकृष्ण (सगुण-साकार)से परे कोई भी तत्त्व नहीं है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

उद्धवजी निर्गुण-निराकार ब्रह्मको सबसे ऊँचा मानते थे पर गोपियोंकी सगुण-भक्ति (श्रीकृष्णके प्रति प्रेम) के सामने उनका अभिमान गल गया! पद्मपुराणमें आया है कि भगवान् श्रीकृष्णके ही नखकी एक किरण 'ब्रह्म' है—

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

(पाताल० ७७। ६०)

'(भगवान् शंकर कहते हैं—) जिनके नखचन्द्रकी कान्तिरूप ब्रह्मका देवतागण ध्यान करते हैं, उन त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

हनुमन्नाटकमें एक श्लोक आया है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥ (१। ३)

'शैव शिवरूपसे, वेदान्ती ब्रह्मरूपसे, बौद्ध बुद्धरूपसे, प्रमाणकुशल नैयायिक कर्तारूपसे, जैन अर्हन्‌रूपसे और मीमांसक कर्मरूपसे जिनकी उपासना करते हैं, वे त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमें वाञ्छित फल प्रदान करें।'

—इस श्लोकमें भी ब्रह्मको सगुण (श्रीहरि) का ही एक रूप बताया गया है। अतः भगवान्‌का सगुणरूप सर्वोपरि है।

'सगुण' का अर्थ सत्त्व-रज-तम गुणोंसे युक्त नहीं है, प्रत्युत जिसमें ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज अपने गीताभाष्यमें लिखते हैं—

'स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजः

प्रभृत्यसंख्येयकल्याणगुणगणमहोदधिः।'

'जो स्वाभाविक असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज प्रभृति असंख्य कल्याणमय गुण-समूहोंके महान् समुद्र हैं।'

'अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यमहोदधिः।'

'जो अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य और औदार्यके महान् समुद्र हैं।' ये गुण चेतनके ही हो सकते हैं, माया (जड) के नहीं।

श्रीमद्भागवतमें सगुणकी उपासना (भक्ति) को निर्गुण अर्थात् सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे अतीत बताया गया है, जैसे—**'मन्निकेतं तु निर्गुणम्'** (११। २५। २५), **'मत्सेवायां तु निर्गुणा'** (११। २५। २७) आदि। गीतामें भी आया है कि सगुणकी उपासना करनेवाला तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१४। २६)

ब्रह्मसूत्रमें भी **'जन्माद्यस्य यतः'** (१। १। २)—इस सूत्रके द्वारा सगुण ब्रह्मको ही मुख्य माना गया है। कारण कि सृष्टिका रचयिता सगुण ही हो सकता है, निर्गुण नहीं। ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्याय, प्रथम पादमें भी ब्रह्मको विभिन्न युक्तियोंसे सृष्टिका कर्ता सिद्ध किया है और उसको समस्त शक्तियोंसे सम्पन्न बताया है—**'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'** (२। १। ३०)। आदि शंकराचार्यजी महाराजने भी गीताभाष्यमें 'पुरुषोत्तम' को ब्रह्म माना है (१५। १८)। 'प्रबोधसुधाकर' में वे कहते हैं—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥ १९५॥

'जो ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द, प्रकृतिसे परे परमात्मा सब भूतोंमें

अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, ये यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण वही हैं।'

उपनिषदोंमें भी ऐसे कई मन्त्र मिलते हैं, जिनसे सगुणकी मुख्यता सिद्ध होती है, जैसे—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

(श्वेताश्वतर० १। १२)

'अपने ही भीतर स्थित इस ब्रह्मको ही सर्वदा जानना चाहिये, क्योंकि इससे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जडवर्ग) और उनके प्रेरक परमेश्वरको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन भेदोंमें बताया हुआ ही ब्रह्म है अर्थात् जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा—तीनों समग्र ब्रह्मके ही रूप हैं।'*

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेताश्वर० ४। १०)

माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये।

यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३। १। ३)

---

* गीतामें जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा—इन तीनोंका एक साथ वर्णन अलग-अलग नामोंसे इस प्रकार हुआ है—

अध्याय/श्लोक	जीवात्मा	प्रकृति	परमात्मा
७। ४—६	परा प्रकृति	अपरा प्रकृति	अहम्
८। ३-४	अध्यात्म; अधिदैव	कर्म; अधिभूत	ब्रह्म; अधियज्ञ
१३। १-२	क्षेत्रज्ञ	क्षेत्र	माम्
१४। ३-४	गर्भ; बीज	महद्ब्रह्म; योनि	अहम्; पिता
१५। १६-१८	अक्षर	क्षर	पुरुषोत्तम

जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदि कारण, सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, दिव्य प्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब पुण्य-पाप दोनोंको भलीभाँति हटाकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी महापुरुष सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।

(छान्दोग्य० ३। १४। २)

वह ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशस्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस समस्त जगत्को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्-रहित और सम्भ्रमशून्य है।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कलात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेताश्वर० १। ३)

उन महर्षियोंने ध्यानयोगमें स्थित होकर अपने गुणोंसे ढकी हुई उन परमात्मदेवकी स्वरूपभूत शक्तिका साक्षात्कार किया, जो परमात्मदेव अकेला ही उन कालसे लेकर आत्मातक सम्पूर्ण कारणोंपर शासन करता है।

सगुण या निर्गुण, सभी उपासनाएँ सगुण-निराकारसे ही आरम्भ होती हैं। परमात्मा हैं—यह मान्यता भी सगुण-निराकारको लेकर ही है, क्योंकि प्रकृतिका कार्य होनेसे बुद्धि प्रकृतिसे अतीत निर्गुण-तत्त्वको पकड़ नहीं सकती। इसलिये निर्गुणके उपासकका लक्ष्य तो निर्गुण-निराकारका होता है, पर बुद्धिसे वह सगुण-निराकारका ही चिन्तन करता है।

५. ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग

भक्ति और ज्ञानमें, द्वैत और अद्वैतमें परस्पर किञ्चिन्मात्र भी विरोध नहीं है। भक्तिमें ज्ञान बाधक नहीं है, प्रत्युत भक्तिका आग्रह बाधक है और ज्ञानमें भक्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत ज्ञानका आग्रह बाधक है। पुस्तकीय ज्ञान अथवा वाचिक (बातूनी) ज्ञान होनेसे ही उसमें भक्ति द्वैतभावना बाधक दीखती है। पुस्तकीय या वाचिक ज्ञानके विषयमें गोस्वामीजी महाराज लिखते हैं—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥

(मानस, उत्तर० ९९ क)

ज्ञानका अनुभव होनेपर उसमें भक्तिसे बाधा नहीं लगती। भगवान् शंकर, सनकादिक, नारदजी, वेदव्यासजी, शुकदेवजी आदि पूर्ण ज्ञानी होते हुए भी भगवान्‌की लीला-कथाएँ गाते और सुनते हैं। वास्तवमें बाधक है—संसारकी आसक्ति। अत: ज्ञानमें द्वैतबुद्धि बाधक नहीं है, प्रत्युत संसारकी आसक्ति बाधक है। भक्तिमें तो प्रेम होता है, आसक्ति नहीं होती। प्रेम आसक्तिको मिटा देता है। अत: ज्ञानमें भक्ति बाधक नहीं है।

जब साधक पहले ही अपनी धारणा बना लेता है कि परमात्मा निर्गुण ही हैं या परमात्मा सगुण ही हैं, द्वैत ही ठीक है या अद्वैत ही ठीक है तो फिर उसको वैसा ही दीखने लग जाता है। वास्तवमें इस तरह एक धारणा (आग्रह) बना लेनेसे तत्त्वबोधमें बाधा लगती है। विभिन्न सम्प्रदायोंमें हाँ-में-हाँ मिलानेवाले लोग तो अधिक होते हैं पर अनुभव करनेवाले बहुत कम होते हैं। जो अपने सम्प्रदायकी बात मानते हुए भी वास्तविक तत्त्व क्या है?—ऐसी सच्ची जिज्ञासा रखता है और अपने मतका आग्रह नहीं रखता, उसीको सुगमतापूर्वक

तत्त्वबोध हो सकता है। वास्तवमें ज्ञान और भक्तिमें कोई फर्क नहीं है। ज्ञानके बिना प्रेम आसक्ति है और प्रेमके बिना ज्ञान शून्य है। परन्तु ज्ञानमार्गी भक्तिमार्गीका तिरस्कार, (उपेक्षा, निन्दा या खण्डन) करता है तो ज्ञानकी सिद्धिमें बाधा लग जायगी और भक्तिमार्गी ज्ञानमार्गीका तिरस्कार करता है तो भक्तिकी सिद्धिमें बाधा लग जायगी। वास्तवमें अभेदवादी भेदवादियोंकी जैसी निन्दा करते हैं, वैसी निन्दा भेदवादी अभेदवादियोंकी नहीं करते। भेदवादी केवल यह कहते हैं कि अभेदवादी मायावादी हैं, क्योंकि वे संसारको माया मानते हैं। परन्तु वास्तवमें अभेदवादी मायावादी नहीं हैं, प्रत्युत ब्रह्मवादी हैं।

वेदान्त पढ़नेवाले कोई-कोई अभेदवादी व्यक्ति भक्तिको पराधीन (छोटा) बताते हैं। वास्तवमें भक्ति परम स्वतन्त्र है—*'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी'* (मानस, उत्तर० ४५। ३) यदि परमात्माको 'पर' मानेंगे तो अद्वैत सिद्धान्त भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि परमात्माको 'पर' माननेसे जीव और ब्रह्मकी एकता कैसे होगी? अत: परमात्मा 'पर' नहीं हैं प्रत्युत 'स्व' हैं। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं (स्वरूप) और स्वकीय। परमात्मा स्वकीय (अपने) हैं। स्वकीयकी अधीनता परम स्वाधीनता है, शिरोमणि स्वाधीनता है। इसलिये भक्तिमें महान् स्वाधीनता, प्रभुता, ऐश्वर्य, विलक्षणता आदि है।

अभेदवादी कहते हैं कि भक्तिमें भगवान् और भक्त—ये दो होते हैं और दूसरेसे भय होता है—**'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** (बृहदारण्यक० १। ४। २)। भय दूसरेसे तो होता है, पर आत्मीय (अपने) से भय नहीं होता है। भगवान् दूसरे नहीं हैं प्रत्युत आत्मीय हैं। बालकके लिये माँ द्वितीय नहीं होती प्रत्युत आत्मीय होती है। इसलिये बालकको माँसे भय नहीं होता। जैसे माँकी गोदमें जानेसे बालक अभय हो जाता है ऐसे ही भगवान्की शरणमें

जानेसे मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है।

असत् (संसार)की तरफ खिंचाव ही असाधन है, जो पतन करनेवाला है और सत् (परमात्मा)की तरफ खिंचाव ही साधन है, जो उन्नति करनेवाला है। ज्ञानसे बातें तो समझमें आ जाती हैं, पर संसारका खिंचाव नहीं मिटता। संसारका खिंचाव तो प्रेमसे ही मिटता है*। तत्त्व-ज्ञान होनेपर भी परमात्मामें खिंचाव (प्रेम) हुए बिना संसारका खिंचाव सर्वथा नहीं मिटता। अतः प्रेम ज्ञानसे भी श्रेष्ठ है। वह प्रेम प्रकट होता है—भगवान्‌को अपना माननेसे और संसारको अपना न माननेसे। इसलिये सगुणकी भक्ति मुख्य है।

कर्मयोगीमें त्यागका बल है और ज्ञानयोगीमें विवेकका बल है, पर भक्तियोगीमें भगवान्‌के विश्वासका बल है। भगवान्‌के विश्वासका बल होनेसे भक्त बहुत जल्दी विकारोंसे मुक्त हो जाता है। ज्ञानमार्गके साधकोंका भी यह अनुभव है कि विकारोंके कारण चित्तमें हलचल होनेके समय भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारनेसे जैसा लाभ होता है, वैसा केवल विचार करनेसे नहीं होता। इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानमार्गके साधकके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कही है—

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ (गीता ६। १४)

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। (गीता २। ६१)

यह भक्तिकी विशेषता है!

---

* अपनी सत्ताका अभाव कोई नहीं चाहता—यह निर्गुणका प्रेम है। परन्तु इस (सत्तामात्रके) प्रेमसे संसारका खिंचाव नहीं मिटता। कारण कि इसमें विवेककी प्रधानता रहती है। विवेकमें सत् और असत्—दोनों रहते हैं। इसलिये विवेककी प्रधानतासे असत्‌की सत्ता नहीं मिटती, भले ही वह कल्पित क्यों न हो परन्तु परमात्मामें विशेष खिंचाव (प्रेम) होनेसे असत्‌का खिंचाव मिट जाता है। इसलिये श्रीरामचरितमानसमें आया है—प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ (उत्तर० ४९। ३)

६. भक्तिकी मुख्यता

परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंमें भक्ति मुख्य है। ज्ञानमार्गी ऐसा कहते हैं कि किसी भी मार्गसे चलो, अन्तमें ज्ञानमें ही आना पड़ेगा, परन्तु यह बात ठीक जँचती नहीं। वास्तवमें भक्ति ही अन्तमें है। ज्ञानमें तो अखण्ड, स्थिर रस है पर भक्तिमें अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान रस है। भक्ति इतनी व्यापक है कि वह प्रत्येक साधनके आदिमें भी है और अन्तमें भी है। भक्ति प्रत्येक साधनके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपमें रहती है, क्योंकि परमात्मामें आकर्षण हुए बिना कोई मनुष्य साधनमें लग ही नहीं सकता। साधनके अन्तमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके रूपमें भक्ति रहती है— '**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८।५४), क्योंकि इसकी प्राप्तिमें ही साधनकी पूर्णता है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवद्भक्ति-विषयक धर्मको श्रेष्ठ बताया गया है— '**अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च**' (३।४।३९)।

गीतामें भी अर्जुनने भगवान्से प्रश्न किया कि सगुण और निर्गुण—दोनों उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है तो भगवान्ने उत्तरमें सगुण उपासकोंको ही श्रेष्ठ बताया—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

'मेरेमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।'

प्रत्येक साधकको अन्तमें भक्तिमार्गमें आना ही पड़ेगा, क्योंकि वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है। गीतामें आया है—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८। ५३—५५)

'अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके एवं निर्मम तथा शान्त होकर साधक ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।'

वह ब्रह्मभूत-अवस्थाको प्राप्त प्रसन्न मनवाला साधक न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी इच्छा करता है। ऐसा सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाववाला साधक मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है।

'उस परा भक्तिसे मेरेको, मैं जितना हूँ और जो हूँ—इसको तत्त्वसे जान लेता है तथा मेरेको तत्त्वसे जानकर फिर तत्काल मेरेमें प्रविष्ट हो जाता है।'

'मैं जितना हूँ और जो हूँ' (**यावान् यश्चास्मि**)—यह बात सगुणकी ही है, क्योंकि (**यावान्-तावान्**) निर्गुणमें हो सकता ही नहीं, प्रत्युत सगुणमें ही हो सकता है*। इससे सगुणकी विशेषता तथा मुख्यता सिद्ध होती है। ज्ञानमार्गमें तो तत्त्वसे जानना (**ज्ञात्वा**) और प्रविष्ट होना (**विशते**)—ये दो ही होते हैं पर भक्तिमार्गमें

* चतुःश्लोकी भागवतमें भी भगवान्‌ने 'यावान्' पदका प्रयोग करते हुए ब्रह्माजीसे कहा है—

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ (श्रीमद्भा० २। ९। ३१)

'मैं जितना हूँ, जिस भावसे युक्त हूँ, जिन रूप, गुण और लीलाओंसे समन्वित हूँ, उन सबके तत्त्वका विज्ञान तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों प्राप्त हो जाय।'

भगवान्ने तत्त्वसे जानना (**ज्ञातुम्**) और प्रविष्ट होना (**प्रवेष्टुम्**) के सिवाय अपने दर्शन (**द्रष्टुम्**) की बात भी कही है*। भगवान् इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी इन्द्रियोंका विषय बन जाते हैं—यह भगवान्की विलक्षण कृपा है! यह विलक्षणता भक्तिमें ही है, ज्ञानमें नहीं।

ज्ञानकी प्रधानता होनेपर साधक भगवान्के निर्गुणरूपको ही जानता है, पर भक्तिकी प्रधानता होनेपर साधक भगवान्के समग्ररूपको जानता है। जैसे बछड़ा गायके एक स्तनका पान करता है तो गायके चारों स्तनोंसे दूध टपकने लगता है, ऐसे ही भक्तका भगवान्की तरफ आकर्षण (प्रेम) होता है तो भगवान् कृपा करके अपने समग्ररूपको प्रकट कर देते हैं! भगवान् उसके अज्ञानान्धकारको दूर कर देते हैं†। उसका उद्धार भी भगवान् कर देते हैं ‡। तात्पर्य है कि अनन्य भक्तको अपने उद्धारके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। उसको ज्ञान करानेकी, उसका उद्धार करनेकी जिम्मेवारी भगवान्पर होती है। भक्त सब क्रियाएँ करते हुए भी सदा भगवान्में ही बरतता है, भगवान्में ही स्थित रहता है$ इतना ही नहीं, भक्त योगभ्रष्ट भी नहीं होता, क्योंकि वह अपने साधनका आश्रय न रखकर भगवान्का ही आश्रय रखता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

---

* भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ (गीता ११। ५४)

† तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। ११)

‡ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता १२। ७)

$ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (गीता ६। ३१)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८। ५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।'

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

'मेरेमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा।'

तात्पर्य है कि भगवान् भक्तपर विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—'**विशेषानुग्रहश्च**' (३। ४। ३८) 'भगवान्‌की भक्तिका अनुष्ठान करनेसे भगवान्‌का विशेष अनुग्रह होता है।'

जहाँ भक्ति होती है, वहाँ ज्ञान और वैराग्य अपने-आप आ जाते हैं। अतः भक्तको ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्तिके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें ज्ञान और वैराग्यको भक्तिके बेटे बताया है—

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥

(१। ४५)

जहाँ माँ जायगी, वहाँ बेटे भी जायँगे ही! इसलिये 'बोधसार' में आया है—

यद्यन्यत् साधनं नास्ति भक्तिरस्ति महेश्वरे।
तदा क्रमेण सिध्यन्ति विरक्तिज्ञानमुक्तयः॥

(बोधसार, भक्ति० ५)

'यदि अपनेमें परमेश्वरकी भक्ति विद्यमान है तो फिर अन्य साधन न होनेपर भी क्रमशः वैराग्य, ज्ञान तथा मोक्ष—तीनोंकी सिद्धि हो जाती है।'

जब शुद्ध भक्तिका वर्णन होता है, तब वह निर्गुण (गुणोंसे अतीत) होता है, जैसे—'**मत्सेवायां तु निर्गुणा**' (श्रीमद्भा० ११। २५। २७) आदि। परन्तु ज्ञानमार्गपर चलनेवाले, ज्ञानके संस्कारवाले जब भक्तिका वर्णन करते हैं, तब उसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता रहती है। इसलिये ज्ञानीलोग भक्ति (प्रेम) का जो वर्णन करते हैं, वह असली (शुद्ध) भक्तिका वर्णन नहीं होता, प्रत्युत ज्ञानमिश्रित भक्तिका वर्णन होता है, जो कि विक्षेप-दोषको दूर करनेवाली होनेसे ज्ञानका साधन है, प्रेमाभक्ति नहीं। प्रेमाभक्ति तो तत्त्वज्ञानसे भी आगेकी चीज है। ज्ञानमार्गवाले प्रेमको अन्तःकरणकी एक वृत्ति (सात्त्विक भाव) मानते हैं, जबकि प्रेम अन्तःकरणकी वृत्ति है ही नहीं। प्रेम तो स्वयंसे होता है। प्रेममें गुण (जडता है) है ही नहीं*। मीराबाईमें शुद्ध प्रेम था, इसलिये उनका शरीर भी चिन्मय होकर भगवान्के श्रीविग्रहमें लीन हो गया, क्योंकि भक्तिमें जड वस्तु रहती ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ चिन्मय हो जाता है। गोपियोंको भी सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण दीखते थे। उनके शरीर भी चिन्मय होकर एक तालाबमें लीन हो गये थे, जो 'गोपीतलाई' (द्वारका) नामसे प्रसिद्ध है। उस तालाबकी मिट्टी ही 'गोपीचन्दन' कहलाती है।

ज्ञानमार्गमें तो संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पर भक्तिमार्गमें

---

* गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥
(नारदभक्तिसूत्र ५४)

'यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।'

स्वतन्त्र तत्त्व ही नहीं है, प्रत्युत सब कुछ भगवान् ही हैं— **'वासुदेवः सर्वम्।'** ज्ञानमार्गवाले मुक्तिको सबसे ऊँची चीज मानते हैं, फिर वे मुक्तिसे भी आगेकी चीज प्रेम (प्रेमाभक्ति या पराभक्ति)को कैसे समझें? मुक्तिमें तो अखण्ड रस है, पर प्रेममें अनन्त रस है। प्रेम मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी चीज है। 'बोधसार' में आया है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है, परन्तु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये कल्पित द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

प्रेमाभक्ति तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी हो सकती है और सीधे भी हो सकती है। भक्तका भगवान्‌में गाढ़ अपनापन (आत्मीयता) होनेसे तत्त्वज्ञान हुए बिना भी सीधे प्रेमाभक्ति प्राप्त हो सकती है। प्रेमाभक्ति प्राप्त होनेके बाद भगवत्कृपासे अपने-आप तत्त्वज्ञान हो जाता है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६। ५)

भगवान् कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। १०-११)

'उन नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है। उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूपमें रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।'

गुरुजनोंसे मिलनेवाले ज्ञानकी अपेक्षा जगद्गुरु भगवान्‌से मिलनेवाला ज्ञान अत्यन्त विलक्षण होता है!

ज्ञानीमें तो अखण्ड आनन्द रहता है, पर प्रेमी भक्तमें प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द रहता है। इसलिये भक्त ज्ञानीकी तरह शान्त, एकरस नहीं रहता, प्रत्युत उसमें विभिन्न विलक्षण भावोंका उछाल आता रहता है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करते-करते गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंका चिन्तन करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारम्बार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।

४. प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद

१. हम भगवान्‌में तथा भगवान् हमारेमें हैं

एक मार्मिक बात है कि हम वास्तवमें जो चाहते हैं, वह सदा हमारेमें है और हम सदा उसमें हैं। हमारी वास्तविक इच्छाएँ तीन हैं—(१) 'सत्' की इच्छा कि मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं, (२) 'चित्' की इच्छा कि मैं सब कुछ जान जाऊँ, कभी किसी विषयमें अनजान न रहूँ और (३) 'आनन्द' की इच्छा कि मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दुःखी न रहूँ। ये तीनों ही इच्छाएँ सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माकी हैं। वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा हमारेमें हैं और हम सदा उनमें हैं। परन्तु हमारेसे भूल यह होती है कि हम इन इच्छाओंको उससे पूरी करना चाहते हैं, जो हमारेमें नहीं है और हम उसमें नहीं हैं। तात्पर्य है कि हम शरीरसे जीना चाहते हैं, बुद्धिसे जानकार बनना चाहते हैं और इन्द्रियोंसे सुखी होना चाहते हैं—इस प्रकार हम तीनों इच्छाओंको संसारसे पूरी करना चाहते हैं, जो कि असत्, जड और दुःखस्वरूप है। इसीलिये ये इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं और हम अनादिकालसे दुःख पा रहे हैं। चाह तो करें सत्-चित्-आनन्दकी और पूरी करना चाहें असत्-जड-दुःखरूप संसारसे, कितनी मूर्खताकी बात है!

शरीर और संसारके निरन्तर बदलनेका अनुभव सबको होता है, पर अपने बदलनेका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। शरीर बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा हो जाता है, पर 'मैं वही हूँ'—इसमें अर्थात् स्वयंमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये हम संसारमें नहीं हैं और संसार हमारेमें नहीं है। तात्पर्य है कि संसार हमारेसे अलग है और परमात्मा हमें नित्यप्राप्त हैं। जो अलग है,

उसको प्राप्त मानना और जो नित्यप्राप्त है, उसको अलग (अप्राप्त) मानना—इसके समान कोई पाप नहीं है।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

(महा० उद्योग० ४२। ३७)

'जो अन्य प्रकारका होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका मानता है, उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया? अर्थात् उसने सब पाप कर लिये।'

जो हमारेसे अलग है, उसकी सेवा करनी है और जो हमारेमें है, उसको अपना मानना है। ऐसा करनेसे संसारसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जायगा और परमात्माका वास्तविक सम्बन्ध जाग्रत् हो जायगा। परमात्माका सम्बन्ध जाग्रत् होनेपर प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी, जो मनुष्यजीवनका चरम लक्ष्य है।

२. भगवान् अपने हैं

जबतक संसारके साथ अपने सम्बन्धकी मान्यता रहती है, तबतक मनुष्यको जो भी वस्तु मिलती है, उसको वह अपनी ही मान लेता है। परन्तु जब सत्संगके द्वारा उसको इस बातका ज्ञान होता है कि संसार मेरा नहीं है, प्रत्युत भगवान् ही मेरे हैं, तब उसको अनुभव होता है कि जो भी वस्तु मिली है, वह भगवान्‌की ही है और भगवान्‌से ही मिली है। अतः वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत उसको देनेवाला अपना है।

मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर उसको देनेवालेकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह वस्तुको तो अपना मानता है, पर उसे—देनेवालेको अपना मानता ही नहीं! वास्तवमें मिली हुई वस्तु

जितनी प्यारी लगती है, उससे अधिक भगवान् (देनेवाले) प्यारे लगने चाहिये। मिली हुई वस्तुसे तो प्यार करना पर उसको देनेवालेसे प्यार न करना कृतज्ञबुद्धि नहीं है, प्रत्युत भोगबुद्धि है।

प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द (प्रेम) का आस्वादन एक (अकेला) होनेसे नहीं होता—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)। इसलिये प्रेमलीलाका आस्वादन करनेके लिये भगवान्‌ने 'मैं एक ही बहुत हो जाऊँ'—ऐसा संकल्प किया—'**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (तैत्तिरीय० २। ६)। भगवान्‌के इस संकल्पसे असंख्य जीवोंकी सृष्टि हुई। भगवान्‌ने श्रीजी (राधाजी) को भी अपनेमेंसे प्रकट किया, जीवोंको भी अपनेमेंसे प्रकट किया और लीलाकी सामग्री (संसार) को भी अपनेमेंसे ही प्रकट किया। प्रेमलीला तभी होती है, जब प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों बराबर हों, कोई भी छोटा-बड़ा न हो। अतः भगवान्‌ने जीवोंको अपने समान अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र बनाया। इस प्रेमलीलामें श्रीजीका तो केवल भगवान्‌में ही आकर्षण रहा, उनसे भूल नहीं हुई पर अन्य जीवोंने मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके लीलाकी वस्तुओं (संसार) को अपना मान लिया और वे उनकी तरफ खिंच गये! वे भगवान्‌से प्रेम न करके उनकी दी हुई वस्तुओंमें ही रमण करने लगे। वे खुद उन वस्तुओंके मालिक बन गये और अपने मालिकको भूल गये। उन्होंने वस्तुओंको अपना मान लिया और जिसने उनको दिया था, उससे विमुख हो गये। इस प्रकार मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग करके जीव पराधीन हो गया तथा जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ गया।

भगवान् जीवपर कृपा करके उसको विवेक देते हैं। जब मनुष्य उस विवेकको महत्त्व देता है, तब भगवान् उसको बोध देते हैं, उस बोधको पाकर मनुष्य पूर्णताका अनुभव करता है और 'मैं

धन्य हूँ! मैं धन्य हूँ!!' कहकर हर्षित हो उठता है। परन्तु यह भी उसकी भूल ही है। वास्तवमें पूर्णता अपनी नहीं है, प्रत्युत पूर्णताको देनेवाला अपना है। इसलिये हमें पूर्णता नहीं चाहिये, प्रत्युत पूर्णताको देनेवाला चाहिये। भगवान् बोध इसलिये देते हैं कि यह मुक्त होकर, स्वाधीन होकर मेरेसे प्रेमका आदान-प्रदान करे। परन्तु जब मनुष्य उस बोधमें ही सन्तुष्ट होकर भगवान्को भूल जाता है, तब भगवान् कृपा करके उसको प्रेमका आस्वादन करानेके लिये उस बोधमें भी नीरसता पैदा कर देते हैं! इसीलिये बोधवान् मनुष्यको अपनेमें कभी तो बड़ा आनन्द दीखता है और कभी नीरसता दीखती है, कभी तो पूर्णता दीखती है और कभी कमी दीखती है। तात्पर्य है कि साधक भले ही भगवान्को भूल जाय पर भगवान् उसको कभी नहीं भूलते और उसको अपनी तरफ खींचनेके लिये चेत कराते रहते हैं।

भगवान्का यह एक विलक्षण स्वभाव है कि वे कुछ भी देते हैं तो इस ढंगसे अपनेको छिपाकर देते हैं कि लेनेवालेको वह वस्तु अपनी ही मालूम देती है! कारण कि संसारमें देनेवाला बड़ा और लेनेवाला छोटा माना जाता है। इसलिये भगवान् अपनेको छिपाकर देते हैं, जिससे अपनेमें बड़प्पन भी न आये और लेनेवालेमें छोटापन भी न आये! अतः मिली हुई वस्तुको लेकर अपनेमें अभिमान नहीं होना चाहिये, प्रत्युत भगवान्के प्रति कृतज्ञबुद्धि होनी चाहिये। जब लेनेवाला मिली हुई वस्तुको अपना न मानकर देनेवाले—भगवान्को अपना मानता है, तब भगवान् उसके ऋणी हो जाते हैं और कहने लगते हैं—***'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'!***

भक्त अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर देता है तो भगवान् भी अपने-आपको उसके अर्पित कर देते हैं। भक्त भगवान्को

प्रेम-रस देता है और भगवान् भक्तको प्रेम-रस देते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११)। इस प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीलामें कौन भक्त है और कौन भगवान् है—इसका पता नहीं लगता! मुक्ति (तत्त्वज्ञान) में तो अखण्ड रस है पर इस प्रेममें अनन्त रस है। इस अनन्त रसकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है।

३. भगवान् प्रेमके अधीन हैं

भगवत्प्रेममें कितना आनन्द है—इसका कोई वर्णन कर ही नहीं सकता। उस प्रेममें जो आनन्द है, वह आनन्द मुक्तिमें, जन्म-मरणसे रहित होनेमें भी नहीं है। कारण कि मुक्त होनेपर, जन्म-मरणसे रहित होनेपर दु:खोंका नाश हो जाता है और मनुष्य सन्तुष्ट हो जाता है, कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है परन्तु प्रेम प्राप्त होनेपर मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता प्रत्युत उसका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। वह प्रेम अविनाशी और चिन्मय है। उसकी प्राप्ति किसी क्रियासे, अभ्याससे अथवा विचारसे नहीं होती। विचारसे जडताका त्याग हो सकता है, अपने स्वरूपका बोध हो सकता है पर प्रेम नहीं हो सकता। प्रेमकी प्राप्ति 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस विश्वासकी गाढ़तासे होती है। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें हमारा जो खिंचाव है, वह भगवान्‌में हो जाय तो वह प्रेम प्राप्त हो जाता है। उस प्रेमको देनेवाले भी भगवान् ही हैं।

भगवान्‌की दी हुई सामर्थ्यसे ही मनुष्य कर्मयोगी होता है, उनके दिये हुए ज्ञानसे ही मनुष्य ज्ञानी होता है और उनके दिये हुए प्रेमसे ही मनुष्य प्रेमी होता है। मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता देखनेमें आती है, वह सब-की-सब उन्हींकी दी हुई है। सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते—यह उनका

स्वभाव है।

अगर भगवान्‌से कुछ माँगना है तो प्रेम ही माँगना है, कुछ पाना है तो प्रेम ही पाना है। एक प्रेमके सिवाय मनुष्यको कुछ नहीं चाहिये। मनुष्यको इस प्रेम-रसका आस्वादन करानेके लिये ही भगवान् मनुष्यरूपसे संसारमें अवतार लेते हैं, अपने-आपको प्रकट करते हैं, तरह-तरहकी लीलाएँ करते हैं और अपने हृदयकी अन्तिम तथा सर्वगुह्यतम (सबसे अत्यन्त गोपनीय) बात—शरणागतिका उपदेश देते हैं*।

भगवान्‌ने मनुष्यकी रचना न तो अपने सुखभोगके लिये की है, न उसको भोगोंमें लगानेके लिये की है और न उसपर शासन करनेके लिये की है, प्रत्युत इसलिये की है कि वह मेरेसे प्रेम करे, मैं उससे प्रेम करूँ, वह मेरेको अपना कहे, मैं उसको अपना कहूँ, वह मेरेको देखे, मैं उसको देखूँ! तात्पर्य है कि भगवान् मनुष्यको अपना दास (पराधीन) नहीं बनाते, प्रत्युत अपने समान बनाते हैं, अपने समान आदर देते हैं। इसलिये भगवान् भक्ति देनेमें संकोच करते हैं, क्योंकि भक्तिमें मनुष्य भगवान्‌का दास बन जाता है। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—

मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्।

(५।६।१८)

'भगवान् मुक्ति तो कभी दे देते हैं पर भक्तियोग सहजमें नहीं देते।'

भगवान् श्रीरामने जब काकभुशुण्डिजीसे कहा कि तू अणिमादि

---

* सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता १८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।'

सिद्धियाँ, ज्ञान, वैराग्य, मुक्ति आदि जो चाहे, सो वर माँग ले। तब काकभुशुण्डिजीने विचार किया कि भगवान्‌ने सब कुछ देनेकी बात तो कही है, पर अपनी भक्ति देनेकी बात कही ही नहीं—

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥

(मानस, उत्तर० ८४। २-३)

इसलिये काकभुशुण्डिजीने और कुछ न माँगकर भक्तिका ही वर माँगा। इससे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और 'एवमस्तु' कहकर बोले—

सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मागसि अस बरदाना॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़ भागी॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई॥

(मानस, उत्तर० ८५। १—३)

तात्पर्य है कि भगवान् अपनी ओरसे भक्ति नहीं देते, पर कोई भक्ति ही चाहे तो वे भक्ति देकर बड़े प्रसन्न होते हैं। कारण कि भक्तिसे भगवान् और भक्त—दोनोंको ही आनन्द मिलता है। इसलिये भगवान् भक्ति चाहनेवालेको भक्ति देकर स्वयं उसके दास बन जाते हैं—

'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'

भगवान् दुर्वासाजीसे कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६६)

'जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं।'

भगवान् किसी भी साधनसे वशमें नहीं होते, पर भक्तिसे वे वशमें हो जाते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २०)

'हे उद्धव! योग, सांख्य (ज्ञान), धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग भी मुझे वशमें करनेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी मेरी अनन्य भक्ति।'

पराधीन होनेसे जीवको तो स्वतन्त्र होनेमें आनन्द आता है, पर परम स्वतन्त्र होनेसे भगवान्‌को पराधीन होनेमें ही आनन्द आता है! कारण कि जीवको स्वतन्त्रता दुर्लभ है और भगवान्‌को पराधीनता!

४. नित्यविरह और नित्यमिलन

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस प्रकार भगवान्‌में आत्मीयताके समान दूसरा कोई साधन नहीं है, भजन नहीं है। आत्मीयतासे आनन्दघन भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है। भगवान् अपने आत्मीय जनको अपना सर्वस्व प्रदान कर देते हैं। भगवान्

उसको अपना अनन्तरस (प्रेम) प्रदान करते हैं। परन्तु जो पराधीनतासे, जन्म-मरणके बन्धनसे दु:खी होकर मुक्तिकी कामना करते हैं, उनको भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु स्वयं उससे छिपकर रहते हैं। जब मुक्त पुरुषको मुक्ति (अखण्डरस) में भी सन्तोष नहीं होता, तब उसमें अनन्तरसकी भूख जाग्रत् होती है। कारण कि मुक्त होनेपर नाशवान् रसकी कामना तो मिट जाती है पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्। (१। ३। २)

'उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है।' अत: भगवान्‌का एक नाम 'आत्मारामगणाकर्षी' भी है।

अनन्तरस-बोधमें नहीं है, प्रत्युत प्रेममें है। इस अनन्तरसकी भूख ही जीवकी वास्तविक तथा अन्तिम भूख है और प्रेमकी प्राप्ति ही जीवका वास्तविक तथा अन्तिम लाभ है। मुक्तिकी तो सीमा है*, पर इस प्रेमकी कोई सीमा नहीं है। इस प्रेमकी प्राप्तिके लिये भगवान् कैसे हैं—यह जाननेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत भगवान् मेरे हैं—यह माननेकी जरूरत है। भगवान् मेरे हैं—यह आत्मीयता भक्त और भगवान्—दोनोंको आनन्द प्रदान करती है, अनन्तरस प्रदान करती है। कारण कि किसी वस्तुका ज्ञान होनेसे केवल अज्ञान मिटता है, मिलता कुछ नहीं। परन्तु 'वस्तु मेरी है'—इस तरह वस्तुमें ममता होनेसे एक रस मिलता है। तात्पर्य है कि वस्तुके आकर्षणमें जो रस है, वह रस वस्तुके ज्ञानमें नहीं है।

---

* यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (गीता ३। १७)

जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमें ही तृप्त तथा अपने-आपमें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

सांसारिक वस्तुमें आकर्षण तो अपने सुखके लिये होता है, पर भगवान्‌में आकर्षण उनको सुख देनेके लिये होता है—'**तत्सुखे सुखित्वम्**।' इसलिये सांसारिक आकर्षणका तो अन्त आ जाता है, पर भगवान्‌के आकर्षणका अन्त नहीं आता, वह अनन्त होता है। भोगेच्छाका अन्त होता है और मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न तो अन्त होता है और न पूर्ति होती है प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारदभक्तिसूत्र ५४)।

प्रेमीको सदा अपनेमें प्रेमका अभाव ही दीखता है। जैसे धनी आदमीको सदा धनका अभाव ही दीखता है। ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसको धनकी कमी मालूम देती है*। ऐसे ही प्रेमीको अपनेमें प्रेमकी कमी-ही-कमी मालूम देती है। इसलिये प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान कहा गया है। यदि प्रेमीको प्रेममें कमी न मालूम दे तो प्रेम बढ़ेगा कैसे? अपनेमें पूर्णता न मानना, सदा प्रेमकी कमी मानना ही 'नित्यविरह' है। नित्यविरह और नित्यमिलन (नित्ययोग) दोनों ही नित्य हैं। अतः न तो प्रेमास्पदसे मिलनकी लालसा पूरी होती है और न प्रेमास्पदसे वियोग ही होता है। नित्यविरहसे प्रेम बढ़ता है और नित्यमिलनसे प्रेममें प्राण आ जाते हैं, चेतना आ जाती है, विशेष विलक्षता आ जाती है।

* वास्तवमें 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'—यह वृत्ति जीवमें प्रतिक्षण वर्धमान भगवत्प्रेमके लिये ही थी, पर जीवने इसको संसारमें, भोग और संग्रहमें लगा दिया। जीवमें आकर्षण तो अविनाशी भगवान्‌का ही था, पर इस आकर्षणको उसने नाशवान् संसारमें लगा दिया। आकर्षण तो वही रहा पर कुसंगसे, भोगोंका सुख लेनेसे उस आकर्षणका लक्ष्य बदल गया। संसारका आकर्षण (आसक्ति या काम) पतनकी तरफ ले जाता है और भगवान्‌का आकर्षण (प्रेम) उन्नतिकी तरफ ले जाता है। संसारका आकर्षण तो क्षीण होकर दुःखमें, नीरसतामें परिणत होता है, पर भगवान्‌का आकर्षण प्रतिक्षण वर्धमान आनन्दमें परिणत होता है।

नित्यविरह और नित्यमिलन एक ही प्रेमके दो रूप हैं।

अरबरात मिलिबेको निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज नित्यविरह और नित्यमिलनका उदाहरण देते हुए कौसल्या माताकी दशाका वर्णन करते हैं—

माई री! मोहि कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै॥ १॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे, राम लखन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उरको, बिधि जो भयो बिपरीता॥ २॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान, सुनहु सखि! अरुझि परी यहि लेखे॥ ३॥
कौसल्या के बिरह-बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर-बिरहकी पीर न जाति बखानी॥ ४॥

(गीतावली, अयोध्या० ५३)

यह नित्यविरह और नित्यमिलन भी भगवान् अपनी ओरसे कृपा करके प्रदान करते हैं।

५. सर्वश्रेष्ठ साधन

भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले तीन साधन हैं—

१. जगत्‌में भगवान्‌को देखना—**'यो मां पश्यति सर्वत्र'** (गीता ६। ३०)।

२. भगवान्‌में जगत्‌को देखना—**'सर्वं च मयि पश्यति'** (गीता ६। ३०)।

३. जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखना—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)।

—इन तीनोंमें शीघ्र भगवत्प्राप्ति करानेवाला सर्वश्रेष्ठ साधन है—जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखना अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा स्वीकार करना। यह सर्वश्रेष्ठ इसलिये है कि जो भाव **(वासुदेवः सर्वम्)** पहलेके दो साधनोंके अन्तमें होता है, वह भाव इस (तीसरे) साधनमें आरम्भसे ही रहता है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १९)

'मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी तथा शरीरके समस्त बर्ताव (व्यवहार) में मेरी ही भावना की जाय।'

उपनिषदोंमें इस बातको समझनेके लिये तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—सोनेका, लोहेका और मिट्टीका। जैसे, सोनेके अनेक गहने होते हैं। उन गहनोंकी अलग-अलग आकृति, नाम, रूप तौल, उपयोग, मूल्य आदि होते हैं, पर उन सबमें सोना एक ही होता

है। सोनेके सिवाय उनमें कुछ नहीं होता। लोहेके अनेक अस्त्र-शस्त्र होते हैं पर उनमें लोहेके सिवाय कुछ नहीं होता। ऐसे ही मिट्टीके अनेक बर्तन होते हैं, पर उनमें मिट्टीके सिवाय कुछ नहीं होता। अतः जैसे सोनेसे बने हुए गहनोंको सोनारूपसे देखना है, लोहेसे बने हुए अस्त्र-शस्त्रोंको लोहारूपसे देखना है और मिट्टीसे बने हुए बर्तनोंको मिट्टीरूपसे देखना है, ऐसे ही परमात्मासे उत्पन्न हुई सृष्टिको परमात्मारूपसे देखना है। अतः यह सब जगत् परमात्माका स्वरूप है—इस बातको ठीक समझनेके लिये यहाँ विचार किया जाता है।

संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबके मूलमें एक अनुत्पन्न वस्तु है, जिसको मनुष्य बना नहीं सकता। जैसे, हम गेहूँकी कई तरहकी चीजें बना सकते हैं, पर गेहूँका दाना नहीं बना सकते। चनोंकी कई चीजें बना सकते हैं, पर चना नहीं बना सकते। आलूकी कई तरहकी चीजें बना सकते हैं, पर आलू नहीं बना सकते। एक मनुष्यशरीरसे कई मनुष्य पैदा हो सकते हैं, पर जिनसे शरीर पैदा होता है, वे रज-वीर्य हम नहीं बना सकते। तात्पर्य है कि जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनकी मूलभूत धातु (बीज) को बड़ा-से-बड़ा वैज्ञानिक भी नहीं बना सकता। उन वस्तुओंमें हम परिवर्तन कर सकते हैं, दोको परस्पर मिला सकते हैं। पेड़-पौधोंकी कलम करके दूसरा फल लगा सकते हैं, उसमें विकृति पैदा कर सकते हैं, पर उसके मूल तत्त्वको नहीं बना सकते। कारण कि मूल तत्त्व स्वतःसिद्ध है। वह मनुष्यका बनाया हुआ नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का बनाया हुआ है*। वे भगवान् सम्पूर्ण

* मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
(गीता १४। ३)

'हे भारत! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति-स्थान है और मैं उसमें जीवरूप गर्भ

संसारके आदि बीज हैं। भगवान् कहते हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह बीज मैं ही हूँ। कारण कि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

सांसारिक बीज तो वृक्षसे पैदा होता है, पर भगवान् पैदा नहीं होते। इसलिये भगवान्ने अपनेको 'सनातन बीज' कहा है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥

(गीता ७। १०)

सांसारिक बीज तो वृक्षको पैदा करके स्वयं नष्ट हो जाता है, पर भगवान् अनन्त सृष्टियोंको पैदा करके भी स्वयं ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। इसलिये भगवान्ने अपनेको 'अव्यय बीज' कहा है—

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९। १८)

तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत्के आदिमें भी रहते हैं और अन्तमें भी रहते हैं। जो आदि और अन्तमें रहता है, वही

(बीज) का स्थापन करता हूँ। उससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी (समष्टि ब्रह्माण्डकी) उत्पत्ति होती है।'

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

'हे कौन्तेय! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सब (व्यष्टि शरीरोंकी) मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

मध्य (वर्तमान) में भी होता है—यह सिद्धान्त है। जैसे, अनेक तरहकी चीजें मिट्टीसे पैदा होती हैं, मिट्टीमें ही रहती हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही लीन हो जाती हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जितने भी बीज हैं, वे सब भगवान्‌से ही पैदा होते हैं, भगवान्‌में ही रहते हैं और अन्तमें भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं। तात्पर्य है कि सांसारिक बीज तो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर भगवान्‌रूप अविनाशी बीज आदि, मध्य और अन्तमें ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः वर्तमानमें संसाररूपसे भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है।

प्रश्न—वर्तमानमें तो पञ्चभूतोंसे बना हुआ जड संसार ही प्रत्यक्षरूपसे दीख रहा है, जो कि उत्पत्ति-विनाशशील है। अतः इसको अविनाशी भगवत्स्वरूप कैसे समझें?

उत्तर—बीजसे जितनी चीजें पैदा होती हैं, वे सब बीजरूप ही होती हैं। जैसे, गेहूँसे पैदा होनेवाली खेतीको भी गेहूँ ही कहते हैं। किसानलोग कहते हैं कि गेहूँकी खेती बहुत अच्छी हुई है, देखो, खेतमें गेहूँ खड़े हैं, गेहूँसे खेत भरा है! परन्तु कोई शहरमें रहनेवाला व्यापारी हो, वह उसको गेहूँ कैसे मान लेगा? वह कहेगा कि मैंने बोरे-के-बोरे गेहूँ खरीदा और बेचा है, क्या मैं नहीं जानता कि गेहूँ कैसा होता है? यह तो घास है, डंठल और पत्ती है, यह गेहूँ नहीं है। परन्तु खेती करनेवाला जानकार आदमी तो यही कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जो पशु खाया करते हैं। यह तो गेहूँ है। खेतीको गाय खा जाती है तो कहते हैं कि गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जब कि उसने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया। खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी न हो पर यह गेहूँ है—इसमें सन्देह नहीं है। कारण कि यह पहले भी गेहूँ ही था, अन्तमें भी गेहूँ रहेगा, अतः बीचमें खेतीरूपसे भी गेहूँ ही है।

अभी तो यह हरी-हरी घास दीखती है, पर बादमें पकनेपर इससे गेहूँ ही निकलेगा। इसी तरह संसारके पहले भी परमात्मा थे—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १), अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। अतः बीचमें भी सब कुछ परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)।

भगवान्ने सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना अपनेमेंसे ही की है, अतः भगवान्के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जो मनकी क़ल्पनामें आता है और जो कल्पनामें नहीं आता, वह सब भगवत्स्वरूप ही है। जाग्रत् और स्वप्नमें जो कुछ देखते हैं, वह सब केवल भगवान् ही हैं, सत् भी भगवान् हैं, असत् भी भगवान् हैं और सत्-असत्से परे भी भगवान् ही हैं—'**सदसत्तत्परं यत्**' (गीता ११। ३७)। जिनके चरणचिह्नोंको भगवान्ने भी अपने हृदयमें धारण किया है, ऐसे पूज्य ब्राह्मण और अत्यन्त नीच श्वपाक (चाण्डाल)—दोनों ही भगवान्के स्वरूप हैं। जैसे सोनेसे बने गणेशजीकी लोग पूजा करते हैं और सोनेसे बने चूहेकी पूजा नहीं करते, पर सुनारकी दृष्टिमें दोनोंका एक ही मूल्य (भाव) है, ऐसे ही ब्राह्मण और चाण्डाल, साधु और कसाई, गाय और कुत्ता, हाथी और चींटी, मिट्टीका ढेला और स्वर्ण—ये सब जाति, गुण, कर्म आदिसे विषम होते हुए भी भक्तकी दृष्टिमें सम अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। तात्पर्य है कि जैसे, शरीरके सब अंगोंसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी उनमें आत्मबुद्धि एक ही रहती है तथा उन अंगोंकी पीड़ा दूर करने तथा उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी समान ही रहती है, ऐसे ही '**जैसा देव, वैसी पूजा**' के अनुसार ब्राह्मण और चाण्डाल आदि सबसे शास्त्रमर्यादाके अनुसार

यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी भक्तकी भगवद्बुद्धिमें तथा उनका दु:ख दूर करने और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कोई अन्तर नहीं आता।

संसारमें जो परिवर्तन दीखता है, वह भगवान्‌की ही एक झलक है, आभा है, स्फूर्ति है, लीला है। संसारी मनुष्य भगवान्‌की उस झलकको देखकर उसमें फँस जाता है। भोगबुद्धिके कारण उसकी दृष्टि परिवर्तनशील संसारमें ही अटक जाती है, भगवान्‌तक नहीं जाती। जब सत्संगके प्रभावसे वह संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब भगवान् विशेष कृपा करके उसको अद्वैत भक्ति अर्थात् भगवद्भाव प्रदान करते हैं।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इससे बढ़कर कोई साधन नहीं है, कोई भजन नहीं है। इस भगवद्भावसे भगवत्प्राप्ति अत्यन्त सुगम हो जाती है। इसी भगवद्भावका उपदेश देते हुए भगवान् ब्रह्माजीसे कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिके पूर्व भी मैं ही था, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ जो सत्, असत् और उससे परे है, वह सब मैं ही हूँ तथा सृष्टिके बाद भी मैं ही हूँ एवं इन सबका नाश हो जानेपर जो कुछ बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(१०। २०)

'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिमें भी मैं ही हूँ, मध्यमें भी मैं ही हूँ और अन्तमें भी मैं ही हूँ।'

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

(१०। ३२)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण सृष्टिके आदिमें भी मैं ही हूँ, मध्यमें भी मैं ही हूँ और अन्तमें भी मैं ही हूँ।'

इस प्रकार परमात्मासे पैदा हुई सृष्टिको परमात्माका स्वरूप जानना ज्ञान है। जबतक अपनी और संसारकी अलग सत्ता दीखती है, तबतक अज्ञान है। जैसे, गेहूँके खेतको गेहूँरूपसे देखना ज्ञान है और घासरूपसे देखना अज्ञान है।

प्रश्न—गेहूँसे गेहूँ ही पैदा होता है, बाजरेसे बाजरा ही पैदा होता है, फिर परमात्मासे तरह-तरहके स्थावर-जंगम प्राणी कैसे पैदा होते हैं?

उत्तर—गेहूँ, बाजरा आदि तो लौकिक बीज हैं, पर भगवान् अलौकिक और विलक्षण (सनातन और अव्यय) बीज हैं। अत: एक ही भगवान्‌से तरह-तरहकी सृष्टि पैदा होती है। तीन लोक, चौदह भुवन, जड-चेतन, स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, सात्त्विक-राजस-तामस, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत-प्रेत-पिशाच, ब्रह्मराक्षस आदि सब-का-सब उस विलक्षण बीजकी ही खेती है! गीतामें भगवान् कहते हैं—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७। ७)

'मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई कारण है ही नहीं।'

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि..................॥ (७। १२)

'जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं—ऐसा समझ।'

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (१०।५)

'प्राणियोंके (बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि) अनेक प्रकारके और अलग-अलग भाव मेरेसे ही होते हैं।'

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५।१५)

'स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) मेरेसे ही होता है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं। मनकी स्फुरणामात्र, चाहे अच्छी हो या बुरी, भगवान् ही हैं। संसारमें अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध, शत्रु-मित्र, दुष्ट-सज्जन, पापात्मा-पुण्यात्मा, अपना-पराया आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, कहने, सोचने, समझने आदिमें आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं। शरीर-शरीरी, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, परा-अपरा, क्षर-अक्षर—सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है—**'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९।४)। जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर उसमें 'मैं' (व्यक्तित्व) कहाँसे आया? 'मैं' है ही नहीं, केवल तू-ही-तू है—

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तूँ॥

जैसे ज्ञानकी दृष्टिसे गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८), ऐसे ही भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्‌की वस्तु ही भगवान्‌के अर्पित हो रही है। जैसे कोई गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन करे, दीपकसे सूर्यका पूजन करे, पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले पुष्पोंसे पृथ्वीका पूजन करे, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुसे भगवान्‌का ही पूजन हो रहा है। वास्तवमें देखा जाय तो पूज्य भी भगवान् हैं, पूजाकी सामग्री भी भगवान् हैं, पूजा भी भगवान् हैं तथा पूजक भी भगवान् हैं! भगवान् कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

(गीता ९। १६)

'क्रतु भी मैं हूँ, यज्ञ भी मैं हूँ, स्वधा भी मैं हूँ, औषध भी मैं हूँ, मन्त्र भी मैं हूँ, घृत भी मैं हूँ, अग्नि भी मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं हूँ।'

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गीता ४। २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है और ऐसे यज्ञको करनेवाले जिस मनुष्यकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि हो गयी है, उसके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

इस प्रकार सब जगह भगवान्‌को देखनेसे साधकके राग-द्वेष रहते ही नहीं! कारण कि जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर राग-द्वेष कौन करे और किससे करे?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

एक मार्मिक बात है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव करनेके लिये क्रिया और पदार्थकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विवेक अथवा भावकी आवश्यकता है। विवेकमें खोज होती है और भावमें स्वीकृति अथवा मान्यता होती है। विवेक और भाव—दोनों ही अन्तमें तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें विवेककी प्रधानता है और भक्तिमार्गमें भावकी प्रधानता है। ज्ञानमार्गमें जानकर मानते हैं और भक्तिमार्गमें मानकर जानते हैं। दोनोंका परिणाम एक ही होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वसे जाननेका जो परिणाम होता है, वही परिणाम दृढ़तासे माननेका भी होता है*। भक्तिमार्गमें पहले भक्त 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा दृढ़तासे मान लेता है, फिर वह इसको तत्त्वसे जान लेता है अर्थात् उसको 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है।

ज्ञानयोगकी दृष्टिसे सभी गुण (सत्त्व-रज-तम) प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं—'**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः**' (गीता १४।५) और भक्तियोगकी दृष्टिसे सभी गुण भगवान्‌से उत्पन्न होते हैं—'**ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि**.......' (गीता ७।१२)। इसलिये ज्ञानयोगीकी दृष्टिमें जो

* मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। जैसे ज्ञानयोगमें जाननेकी शक्तिका उपयोग और भक्तियोगमें माननेकी शक्तिका उपयोग है, ऐसे ही कर्मयोगमें करनेकी शक्तिका उपयोग है। कर्मयोगी मन-वाणी-शरीरसे निष्कामभावपूर्वक प्राणिमात्रकी सेवा करता है अर्थात् संसारसे मिली हुई सामर्थ्य और सामग्रीको संसारकी ही मानकर उसकी सेवामें लगाता है। इस प्रकार सेवा करनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उसको सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। अतः जो तत्त्व ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मिलता है, वही तत्त्व कर्मयोगसे भी मिल जाता है।

कुछ दीखता है, वह सब प्रकृति है* और जो परिर्वतन हो रहा है, वह गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं। भक्तियोगीकी दृष्टिमें जो कुछ दीखता है, वह सब भगवान्का ही रूप है† और जो परिवर्तन हो रहा है, वह भगवान्की ही लीला है।

जगत् न तो जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषकी दृष्टिमें है और न भगवान्की दृष्टिमें है। जिसमें जगत्की वासना है अर्थात् जिसने जगत्को सत्ता और महत्ता दे रखी है, उस जीवकी दृष्टिमें ही जगत् है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। यह जगत्की वासना ही जन्म-मरणरूप बन्धनका बीज है—

वासना यस्य यत्र स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति।
स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासना तु वपुर्नृणाम्॥

'जिस मनुष्यकी जहाँ वासना होती है, उसी वासनाके अनुरूप वह स्वप्न देखता है। स्वप्नके समान ही मरण होता है अर्थात् वासनाके अनुरूप ही अन्तसमयमें चिन्तन होता है और उस चिन्तनके अनुसार ही मनुष्यकी गति होती है।'

इस वासनाको ही गीताने गुणसंग कहा है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (१३। २१) 'गुणोंका संग ही जीवके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है।' यदि वासना न हो तो जीव-बुद्धि और जगत्-बुद्धिके अभावका तथा भगवान्के भावका अनुभव हो जाता है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

---

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ (गीता १८। ४०)

'पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।'

† न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ (गीता १०। ३९)

'मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है।'

ज्ञानमार्गमें साधक विवेकपूर्वक जगत्से असंग होता है और भक्तिमार्गमें साधक भाव-(श्रद्धा) पूर्वक जगत्को भगवत्स्वरूप देखता है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विवेक-(विचार) का विषय नहीं है, प्रत्युत भाव-(श्रद्धा) का विषय है। इसलिये 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह बात भक्तोंकी वाणीमें अधिक आती है।

जबतक सत् और असत्, ब्रह्म और जगत्—दोनों रहते हैं, तबतक विवेक रहता है। असत्की—जगत्की मान्यता मिटनेपर विवेक नहीं रहता, प्रत्युत तत्त्वबोध रहता है। इसलिये विवेकपूर्वक जगत्को अलग करके भगवान्को देखनेसे जगत्की सत्ता रहती है, क्योंकि निषेध उसीका किया जाता है, जिसकी सत्ता मानी है। परन्तु भावपूर्वक जगत्को भगवत्स्वरूप देखनेसे जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। जबतक साधककी दृष्टिमें भगवान् और जगत् दोनों अलग-अलग रहते हैं, तबतक उसके जीवनमें अखण्ड आनन्द नहीं रहता, प्रत्युत कभी आनन्द आता है, कभी नीरसता आती है। कभी साधकको अपने साधनमें बड़ा लाभ दीखता है, कभी दीखता है कि कुछ लाभ नहीं हुआ! अतः सर्वश्रेष्ठ साधन यही है कि साधक जगत्को भगवत्स्वरूप देखे अर्थात् जगत्-रूपसे भगवान् ही हैं—ऐसा देखे।

सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करनेके लिये साधकको दृढ़तासे यह मान लेना चाहिये कि चाहे मेरी समझमें आये या न आये, अनुभवमें आये या न आये पर बात यही सच्ची है। उसको बड़ी-से-बड़ी अथवा छोटी-से-छोटी जो भी वस्तु दिखायी दे, वह ऐसा माने कि इसमें पूरे-के-पूरे भगवान् हैं। जैसे जलके एक कणमें और समुद्रमें एक ही जल-तत्त्व परिपूर्ण है, ऐसे ही मिट्टीका ढेला हो या पृथ्वी हो, उसमें भगवान् पूरे-के-पूरे हैं—**'अणोरणीयान्महतो महीयान्'** (कठ० १। २। २०, श्वेता० ३। २०)। ऐसा मानकर वह

हर समय मन-ही-मन सबको नमस्कार करता रहे*। ऐसा करनेसे उसको सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे। एक दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञानमार्गमें द्वैतभाव है और भक्तिमार्गमें अद्वैतभाव है। कारण कि ज्ञानमार्गमें प्रकृति और पुरुष, सत् और असत्, ब्रह्म और जगत्, नित्य और अनित्य, जड और चेतन, शरीर और शरीरी, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदिका भेद है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। ज्ञानमार्गमें तो ब्रह्म सत् और जगत्

---

* वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
(गीता ११। ३९-४०)

'आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता हैं)। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!! हे सर्व! आपको आगेसे नमस्कार हो! पीछेसे नमस्कार हो, सब ओरसे ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! अमित विक्रमवाले आपने सबको समावृत्त कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।'

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १६)

'अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे, मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है'—ऐसी देहदृष्टिको और लोकलज्जाको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करें।'

असत् है—'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' पर भक्तिमार्गमें सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। इसलिये 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा मानकर जो भगवान्के शरण हो जाता है अर्थात् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व (मैंपन) मिटाकर भगवान्में लीन हो जाता है, उसको भगवान्ने 'ज्ञानी' कहा है—'**वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**' (गीता ७। १९)। ऐसे ज्ञानी भक्तको भगवान्ने अपना अत्यन्त प्रिय बताया है—'**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः**' (गीता ७। १७) और उसको अपना ही स्वरूप बताया है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (७। १८)। तात्पर्य यह हुआ कि विवेकसे भी भाव तेज है। अतः भावपूर्वक जगत्को भगवत्स्वरूप देखना सर्वश्रेष्ठ साधन है।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(मानस, बाल० ७ ग)

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी।
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस, बाल० ८। १)

'सीय राममय' कहनेका तात्पर्य है कि स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक सब-के-सब प्राणी-पदार्थ सीतारामके ही स्वरूप हैं। चाहे सीताराम कहो, चाहे राधेश्याम कहो, चाहे गौरीशंकर कहो, चाहे लक्ष्मीनारायण कहो, एक ही बात है।

६. सब कुछ भगवान् ही हैं

गीतामें भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है'।

तात्पर्य है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यही असली ज्ञान है। ऐसे ज्ञानवाला महात्मा* भक्त भगवान्‌के शरण हो जाता है अर्थात् अपना अस्तित्व (मैंपन) मिटाकर भगवान्‌में लीन हो जाता हैं। फिर मैंपन नहीं रहता अर्थात् ज्ञानवाला नहीं रहता, प्रत्युत केवल ज्ञानस्वरूप भगवान् रह जाते हैं, जिसमें मैं-तू-यह-वह चारों ही नहीं हैं।

संसारका मूल 'अहम्' (मैंपन) है; अतः किसी भी साधनसे इस अहम्‌को मिटाना है। अहम्‌के मिटनेपर सब साधन एक हो जाते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—इस भावसे 'अहम्' (मैंपन) सुगमतापूर्वक मिट जाता है। संसार अहम्‌के कारण ही दीखता है अर्थात् अहंभाव (व्यक्तित्व) को स्वीकार करनेसे, अहम्‌के संस्कार रहनेसे ही संसारकी स्वतन्त्र सत्ता दीखती है। अहंभाव

---

* 'महात्मा' शब्दका अर्थ है—महान् आत्मा अर्थात् अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयतासे रहित आत्मा। जिसमें अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयता है, वह 'अल्पात्मा' है। गीतामें भगवान्‌ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग केवल भक्तके लिये ही किया है। जो भक्तिमार्गपर चलते हैं, उन साधकोंको भी महात्मा कहा है (९। १३), जो भगवान्‌से अभिन्न हो गये हैं, उनको भी महात्मा कहा है (७। १९) और जो परमसिद्धि (परमप्रेम) को प्राप्त हो चुके हैं, उनको भी महात्मा कहा है (८। १५)।

मिटते ही संसारकी स्वतन्त्र सत्ता मिट जाती है और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जाता है। अतः जबतक अपनी अथवा संसारकी स्वन्त्र सत्ता दीखती है, तबतक मुक्ति नहीं हुई, वास्तविक ज्ञान नहीं हुआ। सब कुछ भगवान् ही हैं—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३। १४। १), '**ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्**' (मुण्डक० २। २। ११)। एक परमतत्त्व भगवान्‌के सिवाय और कुछ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं*। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको जाननेवाला भी भगवान् ही है; क्योंकि भगवान्‌में मैं-तू-यह-वह नहीं है। जबतक भगवान्‌को जाननेवालेकी सत्ताका भान है, तबतक '**वासुदेवः सर्वम्**' सिद्ध नहीं हुआ। कारण कि इसके सिद्ध होनेपर स्वयंकी अलग सत्ता, अस्तित्व नहीं रहता, प्रत्युत भगवान्-ही-भगवान् रहते हैं। इसलिये कहा है—

ढूँढा सब जहाँ में, पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा, अब पता मेरा नहीं॥

अर्जुन कहते हैं—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

(गीता १०। १५)

'हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।'

---

* दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४३)

'जो कुछ देखा या सुना जाता है, वह चाहे भूतकालमें हो, वर्तमानमें हो या भविष्यमें, स्थावर हो या जंगम, महान् हो या अल्प, कोई भी वस्तु भगवान्‌से अलग वस्तु कहलानेयोग्य नहीं है। सब कुछ भगवान् ही हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं।'

तात्पर्य है कि जाननेवाले भी भगवान् ही हैं, जाननेमें आनेवाले भी भगवान् ही हैं और जानना भी भगवान् ही हैं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है। भगवान्ने भी कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

'हे धनञ्जय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्‌का दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओत-प्रोत है।'

तात्पर्य है कि सूत भी भगवान् ही हैं, मणियाँ भी भगवान् ही हैं; माला भी भगवान् ही हैं और माला फेरनेवाले भी भगवान् ही हैं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। प्रह्लादजी भगवान्से कहते हैं—

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्॥

(श्रीमद्भा० ७।९।४८)

'अनन्त प्रभो! वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, पञ्चतन्मात्राएँ, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकार, सम्पूर्ण जगत् एवं सगुण और निर्गुण—सब कुछ केवल आप ही हैं। अधिक क्या कहूँ, मन और वाणीके द्वारा जो कुछ निरूपण किया गया है, वह सब आपसे अलग नहीं है।'

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह भाव विवेकसे भी तेज है। ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें भावकी मुख्यता है।

ज्ञानमार्गमें जड और चेतन, सत् और असत्‌का विवेक मुख्य होनेसे यह द्वैतमार्ग है; परन्तु भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌का ही भाव मुख्य होनेसे यह अद्वैतमार्ग है। ज्ञानयोगके आरम्भमें विवेक है, पर भक्तियोगमें आरम्भसे ही भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है। अतः भक्ति ज्ञानसे श्रेष्ठ है।

ज्ञानयोग उन साधकोंके लिये है, जो अत्यन्त वैराग्यवान् हैं— **'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः'** (श्रीमद्भा० ११। २०। ७)। जो न अत्यन्त वैराग्यवान् हैं और न अत्यन्त आसक्त हैं, उनके लिये भक्तियोग ही सिद्धि देनेवाला है—**'न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः'** (श्रीमद्भा० ११। २०। ८)। ज्ञानयोग विवेकमार्ग है। जबतक विवेक है, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं है, प्रत्युत तत्त्वज्ञानका साधन है। अत्यन्त वैराग्य न होनेसे विवेक-मार्गमें असत्‌की सत्ताका भाव रहता है। असत्‌की सत्ताका भाव रहनेसे विवेकप्रधान साधकमें निरन्तर आनन्द नहीं रहता। कारण कि संसार दुःखालय है, इसलिये संसारकी सत्ताका किञ्चिन्मात्र भी संस्कार रहेगा तो विवेक होते हुए भी दुःख आ जायगा। इस असत्‌की सत्ताके संस्कार भीतर रहनेके कारण ही साधकको यह शिकायत रहती है कि बात तो ठीक समझमें आती है पर वैसी स्थिति नहीं होती! उसको कभी तो अपने साधनमें अच्छी स्थिति दीखती है और कभी राग-द्वेष अधिक होनेपर ग्लानि, व्याकुलता होती है कि साधन करते हुए इतने वर्ष बीत गये पर अभीतक अनुभव नहीं हुआ! भावमें सत् और असत् दोनों रहनेसे ही ऐसी दुविधा होती है। यदि भावमें एक भगवान् ही रहें—**'वासुदेवः सर्वम्'** तो ऐसी दुविधा रह ही नहीं सकती।

ज्ञानमार्गमें साधक असत्‌का त्याग करता है तो अहम् (त्याग करनेवाला) रह सकता है। परन्तु भक्तिमार्गमें भगवान् (प्रापणीय

वस्तु) की मुख्यता रहनेसे प्रेम बढ़ जाता है और प्रेम बढ़नेसे अहम् स्वतः छूट जाता है। तात्पर्य है कि ज्ञानमार्गमें अनुभविता (साधक) की मुख्यता रहती है और भक्तिमार्गमें अनुभाव्य (भगवान्) की मुख्यता रहती है। इसलिये ज्ञानमार्गमें मैंपन बहुत दूरतक साथ रहता है, जब कि भक्तिमार्गमें मैंपन जल्दी मिट जाता है। जैसे 'मैं देखता हूँ'—इसमें 'मैं' (देखनेवाले) की मुख्यता रहती है और 'वह दीखता है'—इसमें 'वह' (दीखनेवाले) की मुख्यता रहती है। 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसमें अनुभव, अनुभाव्य और अनुभविता तीनों ही नहीं रहते।

विवेकमार्गमें साधक असत्का निषेध करता है। निषेध करनेसे असत्की सत्ता बनी रहती है। साधक असत्के निषेधपर जितना जोर लगाता है, उतनी ही असत्की सत्ता दृढ़ होती है। अतः असत्का निषेध करना उतना बढ़िया नहीं है, जितना उसकी उपेक्षा करना बढ़िया है। उपेक्षा करनेकी अपेक्षा 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह भाव और भी बढ़िया है। अतः भक्त न असत्को हटाता है, न असत्की उपेक्षा करता है, प्रत्युत सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)—ऐसा मान लेता है।

ज्ञानमार्गमें '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—इसमें इन्द्रियाँ, विषय और क्रिया तीनों हैं पर '**वासुदेवः सर्वम्**' 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—इसमें इन्द्रियाँ, विषय (पदार्थ) और क्रिया तीनों ही नहीं हैं, प्रत्युत केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं।

जैसे ज्ञानमार्गमें अत्यन्त वैराग्यकी जरूरत है, ऐसे ही भक्तिमार्गमें दृढ़ मान्यताकी अर्थात् अचल विश्वासकी जरूरत है। जैसे अत्यन्त वैराग्य होनेपर विवेक बोधमें परिणत हो जाता है, ऐसे ही अचल विश्वास होनेपर '**वासुदेवः सर्वम्**' की मान्यता

अनुभवमें परिणत हो जाती है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो संसारकी मानी हुई सत्ताको हटानेके लिये ही '**वासुदेवः सर्वम्**' की दृढ़ मान्यता करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा '**वासुदेवः सर्वम्**'—यह मान्यता नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। मान्यता करनेमें मान्यता करनेवाला (अहम्) रहता है, जब कि '**वासुदेवः सर्वम्**' में मान्यता करनेवाला अथवा अनुभव करनेवाला नहीं है, प्रत्युत वासुदेव ही है। कारण कि जबतक अहम् है अर्थात् मान्यता करनेवाला अथवा अनुभव करनेवाला है, तबतक संसारकी सत्ता है।

प्रश्न—'वासुदेवः सर्वम्' का भाव विध्यात्मक साधन है या निषेधात्मक?

उत्तर—विधि और निषेधकी बात कर्मयोग और ज्ञानयोगमें है। भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंसे अतीत हैं। कारण कि कर्मयोग और ज्ञानयोग तो लौकिक निष्ठाएँ हैं, पर भक्तियोग लौकिक निष्ठा नहीं है*। विधि-निषेध संसारमें हैं, भगवान् संसारसे अतीत हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसमें निषिद्ध वस्तु (असत्) की सत्ता ही नहीं है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोगमें निषिद्धका त्याग मुख्य है और भक्तियोगमें विश्वासपूर्वक भगवान्का आश्रय

---

*गीतामें आया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (३। ३)

कर्मयोग 'क्षर' (संसार) को लेकर चलता है और ज्ञानयोग 'अक्षर' (जीवात्मा) को लेकर चलता है। क्षर और अक्षर दोनों लोकमें हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' (गीता १५। १६)। इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। परन्तु भक्तियोग परमात्माको लेकर चलता है, जो क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गीता १५। १७)। इसलिये भक्तियोग लौकिक निष्ठा नहीं है।

लेना मुख्य है। भगवान्‌का आश्रय लेना निषिद्धके त्यागसे भी तेज है। आश्रय लेनेका तात्पर्य है—'सब कुछ भगवान् ही हैं, ऐसा दृढ़तासे मानकर 'मैं' और 'मेरा' दोनोंको भगवान्‌में लीन कर देना।

प्रश्न—'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इस बातको सीख लेना और अनुभव करना—इन दोनोंमें क्या भेद है?

उत्तर—सीखनेपर मनुष्य 'सब कुछ परमात्मा ही है' इस बातको याद कर लेगा, इसका ठीक तरहसे वर्णन कर देगा, इस विषयमें पुस्तक लिख देगा, व्याख्यान दे देगा पर उसके भीतर जगत्‌की सत्ता रहेगी। अनुभव होनेपर उसकी एक परमात्मतत्त्वमें ही समान स्थिति रहेगी। तात्पर्य है कि सीखनेमें जगत्‌की सत्ता रहती है और अनुभव करनेमें जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत सब समय तथा सब जगह एक परमात्मा ही रहते हैं।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको सीख लेनेपर कभी तो ऐसा दीखेगा कि मैं परमात्माको प्राप्त हूँ और बड़ी शान्ति, बड़ा आनन्द मालूम देगा। परन्तु कभी यह मान्यता ढीली पड़ेगी और जगत्‌की सत्ता सामने आ जायगी, तब ऐसा दीखेगा कि मेरी वैसी स्थिति हुई ही नहीं। कभी-कभी ऐसा मालूम देगा कि जब हम इस बातको नहीं जानते थे, उस समय जैसी शान्ति थी, वैसी भी अब नहीं है और बड़ी हलचल हो रही है! जगत्‌की सत्ता जितनी दृढ़ होगी, उतनी ही अशान्ति, हलचल, दुःख, सन्ताप पैदा होंगे और जब विचारपूर्वक जगत्‌की सत्ता हटेगी तब सब कुछ परमात्मा ही हैं—ऐसा दीखेगा। परन्तु जब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जायगा, तब इसमें कभी फर्क नहीं पड़ेगा। कारण कि भगवान्‌में जगत् नहीं है।

प्रश्न—'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह करणसापेक्ष है या करणनिरपेक्ष?

उत्तर—'यह करणनिरपेक्ष है। जैसे हम सीढ़ियोंसे छतपर चढ़ते हैं तो ऊपर जाते ही सीढ़ियाँ अपने-आप छूट जाती हैं, ऐसे ही भक्तिमें करण अपने-आप छूट जाता है, उसको छोड़ना नहीं पड़ता। विवेकमार्गका साधक विवेक-विचारपूर्वक सीढ़ियोंको छोड़कर ऊपर चढ़ता है; अतः छोड़नेवाला और छूटनेवाली वस्तुकी सत्ता रहनेसे अहंकार दूरतक साथ रहता है। परन्तु भक्त आरम्भसे ही भगवन्निष्ठ अर्थात् भगवान्के परायण (आश्रित) रहता है। इसलिये भक्तिमें करणका भगवान्के साथ सम्बन्ध रहता है, जब कि 'मैं साधन करता हूँ'—इस प्रकार साधननिष्ठ होनेपर करणके साथ अपना सम्बन्ध रहता है। भक्तिमें साध्य भी भगवान् हैं और साधन भी भगवान्का भरोसा हैं। अतः भक्तमें 'मैं साधन करता हूँ'—यह भाव नहीं होता, प्रत्युत यह भाव होता है कि भगवान्की कृपासे साधन हो रहा है अर्थात् भगवान् ही करवा रहे हैं, मैं नहीं कर रहा हूँ—***'करी गोपाल की सब होइ'।*** इसलिये भक्तमें कर्तृत्व नहीं रहता। अगर कुछ कर्तृत्व रह भी जाय तो उसको भगवान् नष्ट कर देते हैं*।

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं—इसका अनुभव करनेका साधन क्या है?

उत्तर—इसका अनुभव करनेके लिये तीन साधन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें साधक कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

(गीता ४। १८)

---

* तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता १०। १०-११)

ज्ञानयोगमें साधक सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मा और आत्मामें सम्पूर्ण प्राणी देखता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

(गीता ६। २९)

भक्तियोगमें साधक संसारमें भगवान् और भगवान्में संसार देखता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

(गीता ६। ३०)

कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेसे कर्म नहीं रहता, प्रत्युत 'अकर्म' शेष रहता है। सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मा और आत्मामें सम्पूर्ण प्राणी देखनेसे प्राणी नहीं रहते, प्रत्युत 'आत्मा' शेष रहता है। संसारमें भगवान् और भगवान्में संसार देखनेसे संसार नहीं रहता, प्रत्युत 'भगवान्' शेष रहते हैं। अकर्म (निर्लिप्तता), आत्मा और भगवान्—तीनों एक ही हैं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंसे परिणाममें 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जाता है।

कर्मयोगी स्वार्थभावका त्याग करके केवल दूसरोंके सुखके लिये ही सब कर्म करता है, इसलिये उसकी सुखासक्ति मिट जाती है। सुखासक्ति मिटनेसे उसमें मैंपन नहीं रहता। मैंपन मिटनेसे संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है और एक भगवान् ही रह जाते हैं।

ज्ञानयोगी सत्-असत्के विवेकको महत्त्व देकर असत्का निषेध करता है और सत्में स्थित होता है। विवेकके द्वारा सत्में स्थिति होनेपर भी संसारकी सत्ता सूक्ष्मरूपसे रहती है; क्योंकि साधन करते समय तेजीका वैराग्य नहीं था। तीव्र वैराग्य न होनेसे अनुभव होनेपर भी रागका थोड़ा अंश अथवा मैंपन सूक्ष्मरूपसे

रहता है। उस सूक्ष्म मैंपनके रहनेसे ही दर्शनोंमें भेद रहता है और अपना दर्शन, सिद्धान्त, साधन बढ़िया मालूम देता है। यदि तेजीका वैराग्य हो जाय और वास्तविक तत्त्वका साक्षात्कार हो जाय तो यह सूक्ष्म मैंपन नहीं रहता और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जाता है*।

भक्तियोगी सबमें भगवान्‌को और भगवान्‌में सबको देखता है, इसलिये उसकी दृष्टिमें न मैं-मेरा रहता है, न तू-तेरा रहता है, न यह-इसका रहता है और न वह-उसका रहता है, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं। साधारण रीतिसे मैं हूँ, जगत् है और भगवान् हैं—यह भाव रहता है, पर भक्तमें केवल भगवद्भाव ही रहता है। इसलिये उसमें मैंपन सुगमतासे नष्ट हो जाता है† और सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जाता है।

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर सात्त्विक-राजस-तामस भाव त्याज्य क्यों हैं?

उत्तर—जैसे जमीनमें जल सब जगह रहता है पर उसका प्राप्ति-स्थान कुँआ है, ऐसे ही भगवान् सब जगह हैं पर उनका प्राप्तिस्थान हृदय है—'**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' (गीता १३। १७), '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५)। परन्तु सात्त्विक-राजस-तामस भाव भगवान्‌के प्राप्ति-स्थान नहीं हैं। अतः ये साधकके लिये कामके नहीं हैं। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि

* विवेकमार्गमें यदि साधक पहलेसे ही इस बातको समझ ले कि वास्तवमें असत्‌की सत्ता है ही नहीं—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६) तो बुद्धिमें बैठी हुई असत्‌की सत्ता बहुत सुगमतासे हट जायगी।

†भक्तिमार्गमें यदि मैंपन रहता भी है तो 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा भाव रहनेसे वह मैंपन बाधक नहीं होता—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥' (मानस ३। ११। ११), तात्पर्य है कि भक्तका मैंपन भगवान्‌के आश्रित रहता है, स्वतन्त्र नहीं रहता। स्वतन्त्र रहनेसे ही मैंपन बाधक होता है।

वे भाव मेरेसे होनेपर भी मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७। १२)

जैसे, बाजरीकी खेतीमें बाजरी ही मुख्य होती है, पत्ती-डंठल नहीं। किसानका लक्ष्य केवल बाजरीको प्राप्त करनेका ही होता है। बाजरीको प्राप्त करनेके लिये वह खेतीको जल, खाद आदिसे पुष्ट करता है, जिससे बढ़िया बाजरी प्राप्त हो सके। ऐसे ही साधकका लक्ष्य भी केवल भगवान्‌का होना चाहिये, संसारका नहीं। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधकको संसारकी सेवा करनी चाहिये। सेवाके सिवाय संसारसे अपना कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। महत्त्व बाजरी (दाने) का है, पत्ती-डंठलका नहीं; क्योंकि आरम्भमें भी बाजरी रहती है और अन्तमें भी बाजरी ही रहती है। बाजरी प्राप्त करनेके बाद जो शेष बचता है वह (पत्ती-डंठल) अपने लिये किसी कामकी चीज नहीं है, प्रत्युत पशुओंके खानेकी चीज है। ऐसे ही सात्त्विक-राजस-तामस भाव संसारके व्यवहारके लिये हैं, अपने लिये नहीं।

जैसे बाजरी-(बीज)से पत्ती-डंठल पैदा होनेपर भी पत्ती-डंठलमें बाजरी नहीं है और बाजरीमें पत्ती-डंठल नहीं है, ऐसे ही भगवान्‌से पैदा होनेपर भी सात्त्विक-राजस-तामस भावोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्‌में सात्त्विक-राजस-तामस भाव नहीं हैं—**'न त्वहं तेषु ते मयि।'**

जैसे पत्ती-डंठल उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा उनमें बाजरी नहीं दीखती, फिर भी पत्ती-डंठल बाजरीसे अलग नहीं हैं। कारण कि उनके आरम्भमें भी बाजरी थी और अन्तमें भी बाजरी रहेगी। ऐसे ही संसार उत्पत्ति-विनाशशील है और उसमें

भगवान् नहीं दीखते, फिर भी संसार भगवान्से अलग नहीं है। कारण कि संसारके आदिमें भी भगवान् थे और अन्तमें भी भगवान् रहेंगे। जैसे तत्त्वकी दृष्टिसे न देखनेवाला अनजान आदमी बाजरीकी खेतीको देखकर कहता है कि यह तो केवल घास-ही-घास है, बाजरी कैसे हुई? ऐसे ही अज्ञानी मनुष्य कहता है कि जो दीखता है, वह तो संसार है, भगवान् कैसे हुए?* परन्तु जो तत्त्वसे देखते हैं, उन ज्ञानी महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। जो बाजरीको देखते हैं, वही वास्तवमें मनुष्य हैं। जो केवल घासको ही देखते हैं, वे तो पशु हैं! कारण कि मनुष्य तो घासका त्याग करके बाजरीको ग्रहण करते हैं, पर पशु कोरी घास ही चबाते हैं! क्योंकि उनकी दृष्टिमें घासके सिवाय और कुछ है ही नहीं—'**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**' (गीता १६। ११)।

---

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)

'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह जगत् इन गुणोंसे पर अविनाशी मेरेको नहीं जानता।'

७-विलक्षण भगवत्कृपा

७. विलक्षण भगवत्कृपा

भगवान्‌पर तो विश्वास करना चाहिये, पर संसारपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। देखने, सुनने, समझने आदिमें जो संसार आता है; वह प्रतिक्षण ही बदल रहा है—यह सबका अनुभव है; अतः उसपर विश्वास कैसे किया जाय? संसार विश्वासपात्र नहीं है, प्रत्युत सेवापात्र है। विश्वासके योग्य तो केवल भगवान् ही हैं, जो कभी बदले नहीं, कभी बदलेंगे नहीं और कभी बदल सकते नहीं; जो सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। दूसरे, इस बातपर विश्वास करना चाहिये कि जब भगवान्‌ने कृपा करके अपनी प्राप्तिके लिये मानवशरीर दिया है तो अपनी प्राप्तिकी साधन-सामग्री भी हमें दी है। साधन-सामग्री कम नहीं दी है, प्रत्युत बहुत अधिक दी है। इतनी अधिक दी है कि उससे हम कई बार भगवान्‌की प्राप्ति कर सकते हैं, जब कि वास्तवमें भगवान्‌की प्राप्ति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है।

साधकको प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे पास साधन-सामग्री नहीं है। अतः वह इच्छा करता है कि कहींसे कोई साधन-सामग्री मिल जाय, कोई कुछ बता दे, कुछ समझा दे आदि-आदि। अर्जुन भी यही सोचता है कि मेरेमें साधन-सामग्री (दैवी सम्पत्ति) कम है। अतः भगवान् उसको आश्वासन देते हैं कि तुम्हारेमें दैवी सम्पत्ति कम नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक विद्यमान है, इसलिये तुम चिन्ता मत करो, निराश मत होओ—'**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव**' (गीता १६। ५)। भगवान् कल्याण करनेके लिये मनुष्यशरीर तो दे दें, पर कल्याणकी साधन-सामग्री न दें—ऐसी भूल भगवान्‌से हो ही नहीं सकती। भगवान्‌ने अपना कल्याण करनेके लिये विवेक भी दिया है, योग्यता भी दी है, अधिकार भी दिया है, समय भी दिया है, सामर्थ्य भी दी है। अतः यह विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌ने

हमें पूरी साधन-सामग्री दी है। अगर हम यह विचार करते हैं कि हमें भगवान्‌ने ऐसी योग्यता नहीं दी, इतनी बुद्धि नहीं दी, इतनी सामग्री नहीं दी, ऐसी सहायता नहीं दी तो हम क्या करें, अपना उद्धार कैसे करें तो यह हमारी कृतघ्नता है, हमारी भूल है! क्या सबपर बिना हेतु कृपा करनेवाले भगवान् देनेमें कमी रख सकते हैं? कदापि नहीं रख सकते।

अगर हम आध्यात्मिक उन्नति चाहते हैं तो हमें यह विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌ने हमारी सहायता की है, कर रहे हैं और अवश्यमेव करेंगे। वे वर्तमानमें भी सहायता कर रहे हैं और भविष्यमें भी, जहाँ आवश्यकता पड़ेगी, वहाँ हमारी सहायता करेंगे। कारण कि वे स्वाभाविक ही परम दयालु हैं। वे अपने भक्तोंका जैसा पालन-पोषण करते हैं, वैसा-का-वैसा ही पालन-पोषण वे दूसरे प्राणियोंका भी करते हैं। जो मनुष्य भगवान्‌से विमुख चलते हैं, उनको भी भगवान् अन्न, जल, वायु आदि देते हैं। जो दुष्टलोग भगवान्‌के सिद्धान्तसे, शास्त्रसे बिलकुल विरुद्ध चलते हैं, भगवान्‌की निन्दा करते हैं उनको भी भगवान् जीवन-निर्वाहकी सामग्री देते हैं। साँप, सिंह आदि जन्तुओंको भी भगवान् जीवन-निर्वाहकी सामग्री देते हैं। ऐसे परम दयालु भगवान् क्या हमारा पालन-पोषण नहीं करेंगे?

अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
अन्तःस्वभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः।
खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति॥

(प्रबोधसुधाकर २५२-२५३)

'किसीपर कृपा करते समय भगवान् ऐसा विचार नहीं करते कि यह जाति, रूप, धन और आयुसे उत्तम है या अधम? स्तुत्य है या निन्द्य? यह अन्तरात्मारूप महामेघ आन्तरिक भावोंका ही

भोक्ता है। मेघ क्या वर्षाके समय इस बातका विचार करता है कि यह खैर है या चम्पा?'

इसलिये हमें भगवान्‌पर विश्वास करना चाहिये कि हमारी जो आवश्यकता होगी, उसको भगवान् देंगे। अभी गीता, रामायण आदि सच्छास्त्रोंके द्वारा, सत्संगके द्वारा हमें जो बातें मिल रही हैं, वे भी केवल भगवान्‌की कृपासे ही मिल रही हैं।

मूलमें कृपा एक भगवान्‌की ही है, पर वह अलग-अलग माध्यमसे मिलती हुई दीखती है, जैसे, हमें टोंटीसे जल प्राप्त होता हुआ दीखता है, पर विचारपूर्वक देखें तो उसमें जल पाइपसे आता है, पाइपमें जल टंकीसे आता है, टंकीमें जल नदी, कुएँ आदिसे आता है, नदी आदिमें जल वर्षासे आता है, वर्षामें जल समुद्रसे आता है, समुद्रका जल अग्निसे उत्पन्न होता है, अग्नि वायुसे उत्पन्न होती है, वायु आकाशसे उत्पन्न होती है और आकाश परमात्माकी शक्तिसे उत्पन्न होता है। तात्पर्य है कि सबके मूलमें परमात्मा हैं, जिनसे यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है।

हमें जो कुछ भी प्राप्त हो रहा है, वह सब भगवान्‌से ही प्राप्त हो रहा है। वे हमारी योग्यताको देखकर नहीं दे रहे हैं, प्रत्युत स्वयं अपनी अहैतुकी कृपासे हमें दे रहे हैं। जैसे माँ बालकका पालन करती है तो बालककी योग्यता, बल, बुद्धि, विद्या, गुण आदिको देखकर नहीं करती, प्रत्युत माँ होनेके नाते उसका पालन करती है। ऐसे ही भगवान् सबके माता-पिता हैं। वे किसी कारणसे कृपा करते हों, ऐसी बात नहीं है। वे अपने स्वाभाविक स्नेहसे, कृपासे, सुहृद्‌भावसे हमारा पालन कर रहे हैं। ऐसे भगवान्‌की कृपाका भरोसा हरेक मनुष्यको रखना चाहिये। जितना अधिक भरोसा रखेंगे, उतनी ही उनकी कृपा अधिक फलीभूत होगी, अनुभवमें आयेगी, जिससे शान्ति मिलेगी, निश्चिन्तता, निर्भयता होगी।

हमारेपर भगवान्‌की कृपा निरन्तर हो रही है पर हम उधर

देखते ही नहीं! हम उस कृपाकी अवज्ञा करते हैं, निरादर करते हैं, अपमान करते हैं, फिर भी भगवान् अपना कृपालु स्वभाव नहीं छोड़ते, कृपा करते ही रहते हैं। बालक माँका कोई कम निरादर नहीं करता। वह कहीं टट्टी फिरता है, कहीं पेशाब कर देता है, कहीं थूक देता है पर माँ सब कुछ सह लेती है। बालक कभी साँप, बिच्छू आदिको पकड़ना चाहता है, कभी लालटेनको पकड़ना चाहता है, पर माँ सदा उसकी रक्षा करती रहती है। इसी तरह हम भी उलटे चलनेमें बालककी तरह तेज हैं, पर कृपा करनेमें भगवान् भी माँसे कम तेज नहीं हैं, प्रत्युत ज्यादा तेज हैं! इसलिये हमें उनकी कृपाका भरोसा रखना चाहिये।

विपरीत-से-विपरीत परिस्थितिमें भी भगवान्‌की कृपा ज्यों-की-त्यों रहती है। बुखार आ जाय, घाटा लग जाय, घरमें कोई मर जाय, बीमारी आ जाय, अपयश हो जाय, अपमान हो जाय, उसमें भी भगवान्‌की कृपा रहती है। हमें उस कृपापर विश्वास रखना चाहिये।

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बालकका पालन करने और ताड़ना करने—दोनोंमें माँकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

इस प्रकार बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभु कभी विशेष कृपा करके मानवशरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४। ३)

संचित पापोंका अन्त तो आता ही नहीं; क्योंकि हरेक मनुष्यजन्ममें वे होते आये हैं। परन्तु उन पापोंके रहते हुए भी भगवान् मानवशरीर दे देते हैं, बीचमें ही जीवको अपने कल्याणका मौका दे देते हैं—यह भगवान्‌की एक विशेष कृपा है।

भगवान्का स्वभाव ही कृपा करनेका है (**बिनु हेतु सनेही**) और फिर वे कृपा करके मनुष्यशरीर देते हैं तो यह उनकी दुगुनी कृपा हुई! भगवान्की इस अपार कृपापर विश्वास करके साधन किया जाय तो बहुत विशेषतासे, विलक्षणतासे स्वतः-स्वाभाविक पारमार्थिक उन्नति होगी। हम उस कृपाके सम्मुख नहीं होते हैं तो इससे वह कृपा कम फलीभूत होती है। अगर हम उस कृपाके सम्मुख हो जायँ तो कृपा बहुत फलीभूत होगी। इसलिये भगवान्की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ८)

'जो अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगते हुए प्रतिक्षण आपकी कृपाको ही देखता रहता है और हृदय, वाणी तथा शरीरसे आपको नमस्कार करता रहता है, वह आपके परमपदका ठीक वैसे ही अधिकारी हो जाता है, जैसे पिताकी सम्पत्तिका पुत्र!'

केवल भगवान्की कृपाकी तरफ देखते रहनेसे मनुष्य सदाके लिये संसारके दुःखोंसे छूट जाता है। कृपाकी तरफ न देखनेसे वह उस कृपाको ग्रहण नहीं कर सकता, इसीसे वह दुःख पाता है! परन्तु भगवान्की कृपा कभी कम नहीं होती। मनुष्य भगवान्के सम्मुख न हो, भगवान्को माने नहीं, भगवान्का खण्डन करे तो भी भगवान् वैसी ही कृपा करते हैं। पूत कपूत हो जाता है, पर माता कुमाता नहीं होती—'**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।**' भगवान् तो सदासे अनन्त माताओंकी भी माता हैं, अनन्त पिताओंके भी पिता हैं। इसलिये हमारेपर भगवान्की स्वतः अपार, असीम कृपा है। जो कुछ हो रहा है, उनकी कृपासे ही हो रहा हे। जो कुछ मिल रहा है, उनकी कृपासे ही मिल रहा है। जब कोई अच्छा संग मिल जाय, अच्छी बात मिल जाय, अच्छा भाव पैदा

हो जाय, अचानक भगवान्‌की याद आ जाय, तब समझना चाहिये कि यह भगवान्‌की विशेष कृपा हुई है, भगवान्‌ने मेरेको विशेषतासे याद किया है। इस प्रकार भगवान्‌की कृपाकी तरफ देखे, उनका ही भरोसा रखे तो उनकी कृपा बहुत विशेषतासे प्रकट होगी।

एक बालक घरमें सो रहा था। उसकी माँ जल भरनेके लिये कुएँ चली गयी। माँके जानेके बाद बालककी नींद खुल गयी। उसने देखा कि माँ घड़ेमें पानी लेकर आ रही है तो वह माँकी तरफ चल पड़ा। बाहर तेज धूप पड़ रही थी। धूपसे तपी जमीनपर बालकके कोमल-कोमल पैर जल रहे थे, पर उसको इस बातका होश नहीं था कि मैं यहीं ठहर जाऊँ, माँ तो यहाँ आ ही रही है। वह माँके पास पहुँच गया। माँके सिरपर घड़ा था; अतः वह झुककर उसको कैसे उठाये? इसलिये माँने उससे कहा कि तू अपना हाथ थोड़ा-सा ऊँचा कर दे। परन्तु बालकने हाथ ऊँचा नहीं किया, उलटे नीचे लेट गया और कहने लगा कि तू मेरेको छोड़कर क्यों चली गयी? अब गरम जमीनसे उसका शरीर जलता है और वह रोता है। माँ कहती है कि तू थोड़ा ऊँचा हाथ कर दे पर वह उसकी बात सुनता ही नहीं! माँ बेचारी घड़ा लेकर घर आती है और बालक भी उठकर उसके पीछे-पीछे दौड़ता है। अगर वह थोड़ा-सा ऊँचा हाथ कर ले तो उसमें क्या नुकसान होता है? क्या अपमान होता है? क्या बेइज्जती होती है? क्या परिश्रम होता है? किस योग्यताकी जरूरत होती है? इसी तरह भगवान् हमें गोदमें लेनेके लिये तैयार खड़े हैं, केवल हमें थोड़ा-सा ऊँचा हाथ करना है अर्थात् भगवान्‌के सम्मुख होना है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

हमें भगवान्‌की कृपाकी तरफ देखना है और 'हे मेरे नाथ! हे मेरे नाथ!!' कहकर भगवान्‌को पुकारना है। पुकारनेमात्रसे

भगवान् कल्याण कर देते हैं। वे पहले किये गये पापोंकी तरफ देखते ही नहीं कि इसने कितने पाप किये हैं, कितना अन्याय किया है, कितना मेरे विरुद्ध चला है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(मानस, उत्तर० १। ३)

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

बालककी गलती माँको थोड़े ही याद रहती है! बालक माँके कितना ही विपरीत चले, पर उसके सामने आते ही माँको कुछ याद नहीं रहता और वह बड़े प्यारसे उसको गोदमें ले लेती है। इसी तरह भगवान्‌को भी हमारी गलतियोंकी याद नहीं रहती। कैमरेके सामने जो आता है, कैमरा उसके रूपको पकड़ लेता है, उसकी फोटो ले लेता है। परन्तु भगवान्‌का कैमरा और तरहका है! हम भजन करते हैं तो इस भावको भगवान् पकड़ते है, पर हम भूल करते हैं, उलटा चलते हैं तो इसको भगवान् पकड़ते ही नहीं! इसने मेरा नाम लिया है, यह मेरे शरण हुआ है, इसने मेरी और मेरे भक्तोंकी कथा सुनी है, सत्संग किया है—ये बातें तो भगवान्‌के कैमरेमें छप जाती हैं, पर विरुद्ध बातें छपती ही नहीं, उनकी याद भगवान्‌को रहती ही नहीं!

बड़ोंका यह स्वभाव होता है कि वे जिसका सुधार करते हैं, उसपर पहले शासन करते हैं, फिर उसपर स्नेह करते हैं—

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥

(मानस, बाल० ८९। २)

शासन करने और स्नेह करने—दोनोंमें उनकी कृपा समान होती है। गीतामें भी ऐसी बात आयी है। भगवान् पहले अर्जुनको धमकाते हैं कि अगर तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा—'**न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि**' (१८। ५८) फिर प्यारसे कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता १८। ६४)

'सबसे अत्यन्त गोपनीय वचन तू फिर मेरेसे सुन। तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये मैं तेरे हितकी बात कहूँगा।'

भगवान्‌का, गुरुजनोंका, माता-पिताका ऐसा भाव होता है, तभी हमारा पालन होता है, नहीं तो हमारी क्या दशा हो! संसारके लोग अगर हमारे अवगुणोंको जान जायँ तो हमारेसे कितनी घृणा करें! पर भगवान् कण-कणकी बात जानते हैं, फिर भी सहज, स्वाभाविक कृपा करते हैं!

ऐसे को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं॥

(विनयपत्रिका १६२)

लोगोंमें हमारे अवगुण प्रकट नहीं होते, तभी हमारा काम चलता है। हमारे मनमें जो बुरी बातें आती हैं, उनको अगर लोग जान लें तो एक दिनमें कितनी मार पड़े! परन्तु लोंगोंको उनका पता नहीं लगता। भगवान् तो सब जानते हैं, पर जानते हुए भी हमारा त्याग नहीं करते, प्रत्युत आँख मीच लेते हैं कि बालक है, कोई बात नहीं! इस कारण हमारा काम चलता है, नहीं तो बड़ी मुश्किल हो जाय! अगर भगवान् हमारे लक्षणोंकी तरफ देखें तो हमारा उद्धार होना तो दूर रहा, निर्वाह होना भी मुश्किल हो जाय! परन्तु भगवान् देखते ही नहीं। ऐसे कृपासिन्धु भगवान्‌की कृपापर विश्वास रखें, उसीका भरोसा रखें—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

८- वास्तविक सिद्धिका मार्ग

८. वास्तविक सिद्धिका मार्ग

जहाँ अपनी विजय निश्चित हो, वहाँ मनुष्यको अपनेमें कायरता नहीं लानी चाहिये। सांसारिक कार्योंमें तो सिद्धि और असिद्धि दोनों होते हैं, इसलिये भगवान्ने उनमें सम, निर्विकार रहनेकी आज्ञा दी है—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (गीता २। ४८), '**समः सिद्धावसिद्धौ च**' (गीता ४। २२), '**सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः**' (गीता १८। २६)। परन्तु परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें तो सिद्धि ही होती है। संसारिक सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेकी बात भी वास्तविक सिद्धि (परमात्मप्राप्ति) के लिये ही है; क्योंकि सांसारिक सिद्धि-असिद्धिका कोई मूल्य नहीं है। सांसारिक सिद्धि अनिश्चित है; क्योंकि उसमें परतन्त्रता है, पर पारमार्थिक सिद्धि निश्चित है; क्योंकि उसमें स्वतन्त्रता है और उसीके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। अतः साधकको परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपनेमें कायरता नहीं लानी चाहिये, हताश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत इसके लिये मनमें नित्य नया उत्साह रखना चाहिये।

बालक माँपर अपना अधिकार मानता है कि मेरी माँ है। यदि माँके पाँच-सात-दस बालक हों तो भी प्रत्येक बालक पूरी-की-पूरी माँको अपनी मानता है। ऐसा नहीं होता कि दस बालक हैं तो माँके भी दस हिस्से होंगे और प्रत्येक बालक माँके दसवें हिस्सेको अपना मानेगा। इसी तरह भगवान् प्रत्येक जीवके लिये पूरे-के-पूरे अपने हैं। माँ तो फिर भी पक्षपात कर सकती है, पर हम सब जिनकी वास्तविक सन्तान हैं, उन भगवान्में पक्षपात नहीं है। वे भगवान् ही हमारे असली माता-पिता हैं।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

(गर्गसंहिता, द्वारका० १२। १९)

'आप ही माता हैं, आप ही पिता हैं, आप ही सम्बन्धी हैं, आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या हैं, आप ही धन हैं; हे देवदेव! आप ही मेरे सब कुछ हैं।'

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किन्धा०३)

देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, लता-वृक्ष, पहाड़ आदि जो कुछ भी है, सब रूपोंमें हमारे प्रभु ही हैं। इस बातको जिन लोगोंने पहचान लिया, उनपर संसारका असर नहीं हुआ। प्रह्लाद, मीराबाई आदिने इसको पहचाना था, इसलिये बड़े-से-बड़ा दुःख आनेपर भी वे विचलित नहीं हुए; क्योंकि वे सबमें, सब जगह अपने इष्टको ही देखते थे। वे परमात्मा ही हमारे वास्तविक माता-पिता हैं। शरीर तो लौकिक माता-पिताका अंश है जो मर जाता है। परंतु जीव स्वयं परमात्माका अंश है जो कभी मरा नहीं, मरेगा नहीं और मर सकता ही नहीं। इसलिये किसी भी भाई-बहनको अपनेमें ऐसी कायरताका भाव नहीं लाना चाहिये कि मेरेपर भगवान्‌की कृपा कम है अथवा मेरा आचरण ठीक नहीं है, मेरा भाव ठीक नहीं है, मेरेमें भक्ति नहीं है, मेरेमें ज्ञान नहीं है, मेरेमें परमात्मप्राप्तिकी योग्यता नहीं है, मेरेमें बल नहीं है, इसलिये मेरेको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कारण कि हमारी योग्यता अयोग्यपर काम करती है, हमारा बल निर्बलपर काम करता है, हमारी विद्या मूर्खपर काम करती है। इसलिये हम अपनेमें बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता, कुल, धर्म, जाति, वर्ण, आश्रम आदि जो कुछ भी मानते हैं, वे सब परमात्मप्राप्तिके

लिये कुछ कामके नहीं हैं। 'भगवान् मेरे हैं'—यह भाव जितना बलवान् है, उतने ये बल, बुद्धि, विद्या आदि बलवान् नहीं हैं। ज्ञानियोंका ज्ञान भी इतना बलवान् नहीं है। ज्ञान (विवेक) उतनी रक्षा नहीं करता, जितनी भगवान् रक्षा करते हैं!

बच्चा माँकी गोदीमें बैठा हो तो वह सामने आये राजाको भी धमका देता है। यद्यपि माँ इतनी समर्थ नहीं है, तथापि वह समझता है कि मैं जिस माँकी गोदीमें हूँ, उसके समान और कोई नहीं है। परन्तु हमारी वास्तविक माँ—भगवान्‌के समान त्रिलोकीमें और कोई नहीं है। अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

(गीता ११। ४३)

'हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है!'

हम जो अपने शरीरको, अपने कुटुम्बको, अपने सम्प्रदायको, अपने वर्णको, अपने आश्रमको, अपनी योग्यताको, अपनी बुद्धि आदिको ऊँचा मानते हैं और उनके साथ अपना सम्बन्ध मानकर अपनेको बड़ा मानते हैं, यह वास्तवमें बड़ी भारी गलती है। भगवान्‌के सामने इन सबका क्या मूल्य है! भगवान्‌का बल तो निर्बलके लिये है—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥
सुने री मैंने निरबल के बल राम।

अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिका अभिमान भगवत्प्राप्तिमें महान् बाधक है। अपने साधनके बलका अभिमान भी भगवत्प्राप्तिमें बाधक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम साधन न करें। साधन नहीं करेंगे तो करेंगे क्या? अतः साधन तो रात-दिन करना है पर साधनके बलका अभिमान नहीं करना है। साधनके बलपर हम

परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकते। परमात्माको तो उनके शरण होकर ही प्राप्त कर सकते हैं।

बालक छोटा-सा होता है, पर वह रात्रिमें रोने लगे तो घरवालोंको नचा देता है। किस बलपर? रोनेके बलपर। वास्तवमें रोना कोई बल नहीं होता। रोना निर्बलताकी पहचान है। परन्तु कोई पहलवान चोर आता हो और बच्चा रो दे तो वह भाग जाता है—यह रोनेका बल है? ऐसे ही हमें भगवान्‌के आगे रोना चाहिये। हमारेसे भूल यह होती है कि हम धनके लिये, परिवारके लिये, स्त्री-पुत्रके लिये, मान-बड़ाईके लिये, जीनेके लिये, शरीरके लिये रोते हैं। हमारा रोना केवल भगवान्‌के लिये ही होना चाहिये। वे हमारे हैं, हम उनके हैं। जैसे बालक कहता है कि मेरी माँ है। दूसरी माताएँ भी बैठी हैं और वे सुन्दर भी हैं, उनके गहने-कपड़े भी बढ़िया हैं, पर बालक कहता है कि ये मेरी माँ नहीं हैं। एक स्त्री काली-कलूटी है, उसके गहने-कपड़े भी बढ़िया नहीं हैं, पर बालक जाकर उसकी छातीसे चिपक जाता है कि यह मेरी माँ है! वह गहने-कपड़े, योग्यता आदिको देखकर माँके पास नहीं जाता, प्रत्युत अपनेपनको देखकर माँके पास जाता है। ऐसे ही भगवान् हम सबकी वास्तविक माँ हैं। बलवान् कई हो सकते हैं, धनवान् कई हो सकते हैं, विद्वान् कई हो सकते हैं, सिद्ध कई हो सकते हैं, देवता आदि कई हो सकते हैं, पर हमारी माँ—भगवान्‌के समान कोई नहीं है! हमें उन्हींकी शरणमें जाना है।

अर्जुन भगवान्‌के शरण होते हैं और कहते हैं कि धर्मके निर्णयमें मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है, मैं क्या करूँ—‘**पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः**’ (गीता २। ७)? तो भगवान् कहते हैं कि तेरेको धर्मका निर्णय करनेकी क्या जरूरत है? तू सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा। मैं तेरेको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

तात्पर्य है कि तू धर्मका अनुष्ठान तो कर, पर आश्रय मेरा ही रख, धर्मका नहीं। तू अपने बल, बुद्धि, विद्या आदि किसीका भी भरोसा मत रख, एक मेरा ही भरोसा रख।

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

जो साधनके बलपर चलते हैं, वे मजदूर होते हैं। माँ अपने बालकके कामका माप-तौल नहीं करती कि इसने इतना काम किया है तो इसको इतना भोजन दूँगी, इतना लाड़-प्यार करूँगी। कामका माप-तौल नौकरका होता है कि उसने कितना काम किया है और उस कामके अनुसार उसको वेतन मिलता है। लोगोंको तो धन, सम्पत्ति, वैभव आदिकी जरूरत रहती है, पर भगवान्‌को किसी चीजकी जरूरत है ही नहीं! अत: जो अपने बलका आश्रय रखकर भजन करते हैं, साधन करते हैं, मनन-विचार करते हैं, वे सब मजदूरी करते हैं। इसलिये मजदूरीका बल न रखकर भगवान्‌में अपनेपनका बल रखना चाहिये। मजदूरीसे अपनेमें कायरता आती है कि मेरेमें बल नहीं है, मेरेमें योग्यता नहीं है, मैंने इतना साधन नहीं किया, मेरेमें इतनी कमी है!

जब भरतजी भगवान् रामसे मिलने जाते हैं, तब उनकी तीन गतियोंका वर्णन आता है। जब वे अपने बलको देखते हैं, तब वे स्थिर हो जाते हैं। जब वे अपनी माँकी क्रियाको देखते हैं, तब वे पीछे हट जाते हैं। परन्तु जब वे भगवान्‌को देखते हैं, तब दौड़ पड़ते हैं—

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

(मानस, अयोध्या० २३४। ३)

इसी तरह हमें अपने कर्मोंकी तरफ, अपने बलकी तरफ, अपने मन-बुद्धिकी तरफ न देखकर भगवान्‌की तरफ देखना चाहिये। क्या माँ यह देखती है कि बच्चेने आज कितना काम-धंधा किया है? आज उसको कितना दूध पिलाना चाहिये? काम करना तो दूर रहा, वह तो उलटे घरके काममें बाधा डालता है। परन्तु माँ बच्चेको पेटभर दूध देती है। वह जितना चाहे उतना दूध पीये; जैसा चाहे वैसा कपड़ा पहने; जहाँ चाहे वहाँ सोये। शय्यापर न सोये तो गोदीमें ही सो जाय। यह बात तो लौकिक माँकी है। हमारी वास्तविक माँ तो बड़ी अलौकिक, विलक्षण है। ऐसी विलक्षण माँ—भगवान्‌के लिये अपनी योग्यताका विचार करना भी मूर्खता है और अपने साधनमें, भजन-स्मरणमें कमी करना भी मूर्खता है। अपना भजन-स्मरण तो कम नहीं करना चाहिये, पर भजन-स्मरणके बलपर हम भगवान्‌की प्राप्ति कर लेंगे—ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये। हमें अपने बलसे भगवान्‌को नहीं खरीदना है, प्रत्युत अपने-आपको उनके अर्पित करना है। वास्तवमें हम अपने बलके अभिमानसे ही निर्बल हो रहे हैं। अपने धनके अभिमानसे ही निर्धन हो रहे हैं। अपनी योग्यताके अभिमानसे ही अयोग्य हो रहे हैं। अपनी चतुराईके अभिमानसे ही मूर्ख हो रहे हैं। अपनी विद्याके अभिमानसे ही अविद्वान् हो रहे हैं। अपनी क्रियाके अभिमानसे ही नीचे गिर रहे हैं। वास्तवमें हमारे पास 'अपना' माननेयोग्य कुछ है ही नहीं; क्योंकि प्रत्येक वस्तु मिली हुई है और बिछुड़नेवाली है। हमारे पास जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का दिया हुआ है। मिली हुई वस्तुको अपनी मानना और देनेवालेको अपना न मानना बेईमानी है इस बेईमानीको दूर करना है।

भगवान्‌का एक विलक्षण स्वभाव है कि वे सब कुछ देते हैं, पर अपनेको जनाते नहीं। उन्होंने शरीर दिया है, इन्द्रियाँ दी हैं, मन दिया है, बुद्धि दी है, प्राण दिये हैं, पर लेनेवाला देखता है कि यह सब मेरा ही है। अगर शरीर हमारा है तो उसको मरने क्यों देते हो? आँखें हमारी हैं तो उनको कमजोर क्यों होने देते हो? रुपये हम कमाते हैं तो उसमें घाटा क्यों लगने देते हो?

रावण भगवान् शंकरका बड़ा भक्त था, पर वह भगवान् शंकरका बल न मानकर अपना बल मानता था। इसलिये जब रावणको बाण लगते हैं, वह मरता है, तब भगवान् शंकर आकाशमें, खड़े-खड़े तमाशा देखते हैं!

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना।
हमहू उमा रहे तेहिं संगा। देखत राम चरित रन रंगा॥

(मानस, लंका० ८१। १)

यदि रावणमें अपने बलका अभिमान न होकर केवल भगवान् शंकरके बलका भरोसा होता तो भगवान् शंकर भी उसकी सहायताके लिये युद्धमें कूद पड़ते! वास्तवमें सब बल तो भगवान्‌का है, अपना क्या बल है? बच्चेका कितना बल होता है? वह कौएसे, कुत्तेसे डर जाता है। उसके पास केवल माँका बल है। माँका बल तो सीमित होता है। बच्चा मर जाय तो माँ उसको बचा नहीं सकती। परन्तु भगवान्‌का बल असीम है। हिरण्यकशिपु अपनेको बड़ा भारी बलवान् मानता था, पर अन्तमें उसका बल क्या काम आया? जो कठोर-से-कठोर अस्त्र-शस्त्रसे भी नहीं मर सकता था, वह भगवान्‌के नखसे ही मर गया! क्या नखसे भी कोई मरता है? हिरण्यकशिपुके भयसे देवतालोग भी थर्राते थे पर प्रह्लाद उसके सामने निडर होकर बोलता है। जब भगवान् हमारे हैं, तो फिर डर किस बातका? जैसे प्रह्लाद भगवान्‌का था, वैसे ही हम भी

भगवान्‌के हैं। भगवान्‌का अंश होनेमें वह पीढ़ीमें भगवान्‌से नजदीक पड़ता था और हम दूर पड़ते हैं—ऐसी बात नहीं है। भगवान्‌के साथ सबका समान सम्बन्ध है। भगवान् कहते हैं—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २), **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९), **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। फर्क केवल इतना है कि प्रह्लाद भगवान्‌को अपना मानता था, हम भगवान्‌को अपना नहीं मानते।

कोई कैसा ही हो, किसी तरहका हो, किसी वर्णका हो, किसी देशका हो, किसी वेशका हो, किसी आश्रमका हो, किसी सम्प्रदायका हो, हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, यहूदी हो, पारसी हो, सबके लिये भगवान् समान हैं। भगवान् किसीके नजदीक हों, किसीसे दूर हों—ऐसी बात है ही नहीं। जिसका जैसा भाव होता है, उसके लिये भगवान् वैसे ही हो जाते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। इसलिये अपने प्रभुसे दूरी मानकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। जब हम भगवान्‌के बलसे बलवान् हैं तो फिर हिम्मत क्यों हारें?

हिम्मत मत छाड़ो नराँ, मुख ते कहताँ राम।
हरिया हिम्मत सुं किया, ध्रुव का अट्टल धाम॥

भगवान्‌की प्राप्ति हमारे बलसे नहीं होगी, प्रत्युत भगवान्‌के बलसे, उनकी कृपासे होगी। उनकी कृपासे ही सब काम हुआ है, हो रहा है और होगा। हम अपने जीवनपर दृष्टि डालें कि हमें यह मानवशरीर कैसे मिला? क्या हमने जानकर यहाँ जन्म लिया था। बचपनसे लेकर आजतक हमारा पालन-पोषण कैसे हुआ? गीता, रामायण आदिसे परिचय कैसे हुआ? सत्संग कैसे मिला? अच्छी पुस्तकें कैसे मिलीं? अच्छा संग कैसे मिला? उसके लिये क्या हमने कोई पुरुषार्थ किया था? कोई उद्योग किया था? कुछ

बल लगाया था? कुछ रुपये खर्च किये थे? कुछ परिश्रम किया था? सब भगवान्‌की कृपासे ही हुआ है। जब उनकी इतनी कृपा मिली है तो फिर अब चिन्ता क्यों करें? कोई आदमी किसी ब्राह्मणको भोजनका निमन्त्रण देकर घरपर बुलाये। उसको आसनपर बैठा दे। पत्तल सामने रख दे। जल भी रख दे। अब वह भोजन देगा कि नहीं—इसकी चिन्ता करनेकी क्या जरूरत? अगर उसका भोजन देनेका मत नहीं होता तो वह निमन्त्रण क्यों देता? पत्तल सामने क्यों रखता? ऐसे ही भगवान्‌ने अपनी कृपासे हमें मनुष्यशरीर दिया है, गीता, रामायण-जैसे ग्रथोंसे परिचय कराया है, सत्संगकी बातोंसे परिचय कराया है। हमने उनसे कब कहा था कि आप ऐसा करो? अतः जिसने इतना दिया है, वह आगे भी देगा। नहीं देगा तो लाज किसकी जायगी? द्रौपदी भगवान्‌से कहती है—***'जायगी लाज तिहारी नाथ मेरो का बिगड़ैगो' !*** इसलिये हम चिन्ता क्यों करें? विश्वास न हो तो भगवान्‌से कहो कि हे नाथ! आप मेरेको विश्वास दो, प्रेम दो; नहीं दोगे तो और कौन देगा? जैसे माँका दूध माँके लिये नहीं है, प्रत्युत बच्चेके लिये ही है, ऐसे ही भगवान्‌की शक्ति हमारे लिये ही है। हमारा काम तो बस यही है कि हम उनकी शरण हो जायँ।

संसारके काममें तो नफा भी हो जाता है और नुकसान भी हो जाता है, किसीका जन्मना भी हो जाता है और मरना भी हो जाता है, हम चाहते कुछ और हैं पर होता कुछ और है। तात्पर्य है कि सांसारिक सिद्धि अवश्यम्भावी नहीं है; परन्तु पारमार्थिक सिद्धि (भगवत्प्राप्ति) अवश्यम्भावी है। इस मार्गपर हमारी विजय निश्चित है।

९. प्रार्थना और शरणागति

भगवान्‌से प्रार्थना करना और उनके शरण होना—ये दो बातें तत्काल सिद्धि देनेवाली हैं। कोई आफत आ जाय, दु:ख आ जाय, सन्ताप हो जाय, उलझन हो जाय तो आर्तभावसे 'हे नाथ! हे प्रभो!' कहकर भगवान्‌को पुकारे, उनसे प्रार्थना करे तो तत्काल लाभ होता है। जैसे गजेन्द्र, द्रौपदी, उत्तरा आदिने विपत्तिके समय भगवान्‌को याद किया, उनको पुकारा तो उनकी तत्काल रक्षा हो गयी। कारण यह है कि जब अपना बल कोई काम नहीं देता, अपनी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, उस समय भगवान्‌की शरण लेनेसे भगवान्‌की कृपा काम करती है। जब गजेन्द्र ग्राहसे अपनेको न छुड़ा सकनेके कारण अपने बलसे और अपने साथियोंसे निराश हो गया, तब वह भगवान्‌की शरणमें गया और भगवान्‌ने उसको ग्राहसे मुक्ति दिलायी। चीर-हरणके समय जब द्रौपदी सब तरफसे निराश हो गयी, किसीने भी उसकी प्रार्थना नहीं सुनी, तब उसने भगवान्‌को पुकारा और भगवान्‌ने उसकी रक्षा की। जब अश्वत्थामाके द्वारा छोड़ा गया अस्त्र उत्तराके गर्भको नष्ट करनेके लिये आने लगा, तब उत्तराने सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारा और भगवान्‌ने उसके गर्भकी रक्षा की। जब अर्जुन कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय न कर सकनेके कारण अपनी बुद्धिसे निराश हो गये, तब वे भगवान्‌की शरणमें गये और भगवान्‌ने संसारका उद्धार करनेवाले गीतोपदेशके द्वारा उनके मोहका नाश कर दिया।

भगवान्‌की कृपासे जो काम होता है, वह अपने बल-बुद्धिसे कभी नहीं होता। परन्तु जबतक अपना बल पूरा न लगा दें, तबतक भीतरसे असली प्रार्थना नहीं होती। कारण कि अपना बल पूरा लगानेसे जब अपनेमें निर्बलताका अनुभव होने लगता है, तब अपने बलका भरोसा छूट जाता है और अपने बलका भरोसा छूटनेसे ही असली प्रार्थना होती है।

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।

अपनी बुद्धि कुण्ठित हो जाय, अपनी युक्तियाँ, अपना उद्योग सब फेल हो जाय, ऐसे समयमें असली प्रार्थना होती है, नहीं तो अपने बल आदिके अभिमानका अंश रहनेसे नकली प्रार्थना होती है। नकली प्रार्थनासे काम नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि हमने प्रार्थना की, पर कुछ नहीं हुआ तो वास्तवमें उनसे असली प्रार्थना हुई ही नहीं! प्रार्थना की नहीं जाती प्रत्युत भीतरसे निकलती है, अर्थात् स्वतः होती है। अगर भीतरसे असली प्रार्थना हो तो तत्काल काम होता है।

जब अपने बलका, योग्यताका, पदका, विद्याका, बुद्धिका, वर्णका, आश्रमका, सम्प्रदायका कोई-न-कोई सहारा रहता है, तब न तो असली प्रार्थना होती है और न असली शरणागति ही होती है। कारण कि अपने बल, योग्यता आदिका सहारा रहनेसे अहम् बना रहता है। जबतक अहम् है, तबतक असली प्रार्थना और असली शरणागति नहीं होती। असली प्रार्थना और असली शरणागतिके बिना काम नहीं होता।

अपनेमें सर्वथा निर्बलताका अनुभव हो जाय, तब असली प्रार्थना और असली शरणागति होती है—*'सुने री मैंने निरबलके बल राम।'* निर्बलताका अर्थ यह नहीं है कि हमारा शरीर निर्बल हो जाय, शरीरमें शक्ति न रहे, हम बीमार हो जायँ। निर्बलताका अर्थ है—अपने बलसे निराश हो जाना, अपने बलका किञ्चिन्मात्र भी सहारा, भरोसा या अभिमान न होना। बुद्धिबल, मनोबल, धनबल, तनबल, बाहुबल, विद्याबल आदि सबसे निराशा हो जाय और भगवत्प्राप्तिकी तीव्र आशा हो जाय, तब प्रार्थना तत्काल काम करती है। अपने बलकी आशा रहे और भगवत्प्राप्तिसे निराश हो जायँ, तब प्रार्थना काम नहीं करती।

ऐसा कोई भी असम्भव काम नहीं है, जो भगवान्‌की प्रार्थनासे सम्भव न हो जाय। कारण कि भगवान्‌का बल अपार है, असीम है, अनन्त है। भगवान्‌के बलका वर्णन शब्दोंसे कोई भी नहीं कर सकता। हम उनको जितना अपार, असीम, अनन्त समझते हैं, उससे भी वे बहुत विलक्षण अपार हैं, विलक्षण असीम हैं, विलक्षण अनन्त हैं। अपार, असीम और अनन्त शब्द तो सापेक्ष हैं अर्थात् पारकी अपेक्षा अपार है, सीमाकी अपेक्षा असीम है, अन्तकी अपेक्षा अनन्त है, पर भगवान् निरपेक्ष हैं। उनकी प्रार्थना और शरणागति निर्बल होनेसे होती है—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥

एक भगवान्‌के सिवाय किसीका आश्रय न रहे—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

जबतक बल, बुद्धि, योग्यता, वर्ण, आश्रम आदिका किञ्चिन्मात्र भी आश्रय है, तबतक अनन्य पुकार नहीं होती। अपने बल, बुद्धि आदिका किञ्चिन्मात्र भी आश्रय न हो और ऐसा अनुभव हो कि मैं अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिसे भगवान्‌को प्राप्त कर ही नहीं सकता, अपने दुःखको दूर कर ही नहीं सकता, तब भगवान्‌का बल काम करता है।

साधकको चाहिये कि वह अपनेमें निर्बलताका अनुभव करके भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाय, उनके ही परायण हो जाय कि हे नाथ! आपके सिवाय मेरा कोई आश्रय नहीं है, कोई शक्ति नहीं है। ऐसा होकर निश्चिन्त हो जाय तो तत्काल काम होता है, जबकि अपनी साधनाके बलसे वर्षोंतक काम नहीं होता। इसमें एक मार्मिक बात है कि अपनी शक्ति तो पूरी लगानी चाहिये, पर

आश्रय भगवान्‌का ही रखना चाहिये। इसलिये गीताने कहा है—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

(७। २९)

'जरा और मरणसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं।'

साधक यत्न तो करे, पर भरोसा यत्नपर न रखकर भगवान्‌पर रखे। जैसे भगवान्‌ने बायें हाथकी छोटी अँगुलीके नखपर गोवर्धन पर्वतको उठा लिया और ग्वालबालोंसे कहा कि सब अपनी-अपनी लाठी लगाओ। सबने अपनी लाठियाँ लगा दीं, पर उनके मनमें यह भाव आया कि हम सब ग्वालबालोंने अपनी लाठियोंसे सहारा लगाया है, तभी पर्वत ठहरा है। उनके मनमें ऐसा भाव आनेपर भगवान्‌ने उनके बलका अभिमान दूर करनेके लिये अपनी अँगुलीको थोड़ा-सा नीचे किया तो सब चिल्लाने लगे कि अरे दादा, मरे-मरे! भगवान्‌के द्वारा ऐसा करनेका तात्पर्य था कि तुम अपना बल तो लगाओ, पर आश्रय अपने बलका मत रखो। तत्परता तो पूरी हो पर अपने बलका अभिमान न हो। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' (गीता ११। ३३)

'हे सव्यसाची! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।'

निमित्तमात्र बननेका अर्थ है कि अपनी शक्ति तो पूरी लगाओ, पर अपनी शक्तिका किञ्चिन्मात्र भी भरोसा मत रखो। थोड़ा-सा काम कर देना निमित्तमात्र बनना नहीं है। अर्जुन दोनों हाथोंसे बाण चलाते थे। वे दायें हाथसे बाण चलाकर जैसा निशाना मारते थे, वैसा ही निशाना बायें हाथसे बाण चलाकर मारते थे। इसलिये अर्जुनका नाम 'सव्यसाची' था। भगवान् अर्जुनको 'सव्यसाची'

सम्बोधन देकर यह कहते हैं कि तुम अपनी पूरी शक्ति लगाओ, पर मनमें यह बात मत रखो कि मेरे बलसे, मेरी विद्यासे काम हो जायगा। जो कुछ होगा, मेरी कृपाके बलसे होगा। इसलिये भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर प्रार्थना की जाय तो भगवान्‌की अपार विलक्षण शक्ति तत्काल काम करती है। रामचरितमानसमें आया है—

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।

(उत्तर० १२२ ख)

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।

(उत्तर० ११९ ख)

तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।

(लंका० ३५। ४)

तात्पर्य है कि भगवान् असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव बनानेमें सर्वथा समर्थ हैं—‘**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**’। उनमें किसी तरहकी असामर्थ्य नहीं है। वे सब तरहसे पूर्ण हैं। बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता आदि किसी भी विषयमें उनमें किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं है। ऐसे सर्वथा परिपूर्ण, सर्वसमर्थ भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध हो जायगा तो उनकी सब शक्ति हमारेमें आ जायगी। जैसे बिजलीके तारके साथ सम्बन्ध होनेपर पंखा भी चलता है, अँगीठी भी जलती है, बर्फ भी जमती है, प्रकाश भी होता है। एक ही शक्तिसे अनेक परस्परविरुद्ध कार्य हो जाते हैं। ऐसे ही संसारकी उत्पत्ति करनेमें, पालन करनेमें और संहार करनेमें एक ही शक्ति काम करती है। जब प्रार्थनाके द्वारा भक्त ऐसे सर्वसमर्थ भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसमें किसी तरहकी कमी कैसे रह सकती है? कमी रहनेकी सम्भावना ही नहीं है। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोतम जान लेता है, वह सर्ववित् मनुष्य सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है।'

जो भगवान्‌को पुरुषोत्तम जानता है, वही सर्ववित् (सर्वज्ञ) होता है। संसारकी बहुत बातें जाननेसे मनुष्य सर्ववित् नहीं होता। भगवान्‌की शक्ति अपार, असीम, अनन्त, अगाध है—ऐसा जिसका दृढ़ विश्वास है, वह सब प्रकारसे भगवान्‌का ही भजन करता है। उसकी दृष्टि भगवान्‌के सिवाय दूसरी तरफ जाती ही नहीं। भगवान्‌के सिवाय और किसीका कोई सहारा नहीं रहता और किसीका कोई मूल्य नहीं रहता और किसीसे कोई आशा नहीं रहती। वह सब तरफसे निराश हो जाता है। मैं अपने बलसे कर लूँगा—यह बात उसके हृदयसे सदाके लिये उठ जाती है। ऐसी स्थितिमें असली शरणागति होती है, असली प्रार्थना होती है। भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।'

अपने बल, बुद्धि, विद्या आदिका किञ्चिन्मात्र भी आश्रय या अभिमान न रखकर भगवान्‌की अनन्य शरण होना हमारा काम है और सम्पूर्ण पापोंसे सदाके लिये मुक्त करना भगवान्‌का काम है। कारण कि हम ही भगवान्‌से विमुख हुए हैं, भगवान् हमारेसे कभी विमुख नहीं हुए। अगर हम अनन्यभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ तो फिर भगवान्‌की शक्तिसे बहुत जल्दी तथा सुगमतासे कल्याण हो जायगा। इसलिये भगवान् आश्वासन देते हैं कि मेरी शरणमें आनेसे मैं सम्पूर्ण पापोंसे, दुःखोंसे, बन्धनोंसे मुक्त कर दूँगा, फिर तुम चिन्ता क्यों करते हो?